सम्यक्-चारित्र-चिन्तामणि

लेखक
डॉ० पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य

वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट प्रकाशन

ग्रन्थमाला-सम्पादक व नियामक
डॉ० दरबारी लाल कोठिया, न्यायाचार्य
सेवा-निवृत्त रीडर, प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५
*
सम्यक्चारित्र-चिन्तामणि
*
लेखक
डॉ० पं० पन्नालाल साहित्याचार्य
*
ट्रस्ट-संस्थापक
आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
*
प्रकाशक
मंत्री, वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट
*
प्राप्ति स्थान
व्यवस्थापक,
वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट
बी० ३२/१३ बी, नरिया
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-५ (उ० प्र०)
*
प्रथम संस्करण : ११०० प्रति
१९८८
*
मूल्य : पैंतीस रुपये
*
मुद्रक :
सन्तोष कुमार उपाध्याय
नया संसार प्रेस
भदैनी, वाराणसी-१

प्रकाशकीय

सन् १९८३-८४ में वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्टसे हमने आठ ग्रन्थोंका प्रकाशन किया था, जो सभी महत्त्वपूर्ण रहे। इनमें समाधिमरणोत्साहदीपकका द्वितीय संस्करण था। शेष सातों ग्रन्थ इतःपूर्व अप्रकाशित रचनाएँ थीं। इस दृष्टिसे यह वर्ष ट्रस्टके इतिहासमें अभूतपूर्व और सुखद रहा। संयोगसे साढ़े पाँच हजार रुपयोंका आर्थिक सहयोग भी प्राप्त हुआ।

१९८५-८६ में हम कोई ग्रन्थ पाठकोंको नहीं दे पाये, इसके मुख्य कारण थे—बनारस छोड़कर श्रीमहावीरजी जाना और वहाँ के जैन-विद्या-संस्थानमें चल रहे पुराण-कोषके कार्यमें मानद सहयोग करना तथा १८ दिसम्बर १९८५ को मेरी सहधर्मिणी श्रीमती चमेलीबाई कोठियाका टीकमगढ़ (म० प्र०) में श्वासका उपचार कराते हुए देहावसान हो जाना। फिर भी हमने १९८६-८७ में करणानुयोग प्रवेशिका, चरणानुयोग प्रवेशिका और द्रव्यानुयोग प्रवेशिका इन तीन ग्रन्थोंका पुनर्मुद्रण कराया, जिनकी पाठकों द्वारा अधिक माँग हो रही थी।

डॉ० भागचन्द्रजी 'भास्कर' के सम्पादकत्वमें '**चंदप्पहचरिउ**' का जयपुरसे मुद्रण करानेमें अवश्य दो-ढाई वर्षका समय लगा और उसे पाठकोंके समक्ष हम विलम्बसे रख पाये, जिसके लिए क्षमा-प्रार्थी हैं।

आज हमें समाजके ख्यातिप्राप्त विद्वान डॉ० पं० पन्नालालजी साहित्याचार्यको संस्कृतमें रचित और उन्हींके द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दीमें अनूदित सैद्धान्तिक कृति '**सम्यक्-चारित्र-चिन्तामणि**' का प्रकाशन करते हुए हर्ष हो रहा है। यह चरणानुयोगसे सम्बन्धित साधु और श्रावकके आचारको प्रतिपादिका एक महत्वपूर्ण एवं मौलिक रचना है। आशा हैं उनकी यह कृति मुनि-वृन्दों और श्रावकोंके लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध होगी और वे इसे चावसे पढ़ेंगे तथा अपने आचारको समृद्ध बनायेंगे। स्मरणीय है कि साहित्याचार्यजी द्वारा रचित सम्यक्त्व-चिन्तामणि और सम्यग्ज्ञान-चिन्तामणि ये दो रचनाएं ट्रस्टसे पहले प्रकाशित हो चुकी हैं, जो पाठकोंके लिए बहुत पसन्द आयी हैं और पर्याप्त समादृत हुई हैं।

प्रसन्नताको बात है कि इसकी विस्तृत भूमिका समाजके मान्य मनीषी श्रीमान् पं० ब्र० जगन्मोहनलाल जी सिद्धान्तशास्त्री ने लिखकर ट्रस्टको अनुगृहीत किया है। इसमें पण्डितजी ने एक ऐसी बात लिखी है, जो समाजके लिए ध्यातव्य है। उन्होंने लिखा है कि "अनेक मुनि-साधु कूलर, हीटर, पालकी, वाहन आदिका भी उपयोग करने लगे हैं जो सर्वदा विपरीत है। इसका अन्त कहाँ होगा, यह चिन्तनीय है।" आगे लिखा है कि "साधुओं व आर्यिकाओंको बिना पादत्राणके पैदल ही विहार करनेकी आज्ञा है, ईर्यासमितिका पालन करते हुए, परन्तु पालकीका उपयोग करने वालेकी ईर्यासमिति कैसे सधेगी?" यह वास्तवमें मुनि-संघोंमें बढ़ रहे शिथिलाचारपर उनके द्वारा प्रकटकी गयी गम्भीर चिन्ता है। समाजको तत्काल इस दिशामें उचित कदम उठाना चाहिए। अन्यथा यह विष-बेला बढ़ती ही जावेगी। पण्डितजीकी यह भूमिका पठनीय एवं मननीय है।

डॉ० पन्नालालजी एक साधक की भाँति निरन्तर सरस्वती की साधना में संलग्न हैं। इस सुन्दर कृतिको प्रस्तुत करनेके लिए हम उन्हें धन्यवाद देते हुए उनके दीर्घायुः की मंगल-कामना करते हैं।

आदरणीय पं० जगन्मोहन लालजी शास्त्रीके भी कृतज्ञ हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थकी विचार-पूर्ण भूमिका लिखी।

ट्रस्टके सभी सदस्यों, पाठकों और सहयोगियोंको भी धन्यवाद है।

विनम्र

बीना (म० प्र०)
१५-१०-१९८८

(डॉ०) दरबारीलाल कोठिया
मानद मन्त्री

भूमिका

प्राचीन ग्रन्थ-लेखनकी भी प्रारम्भिक प्रक्रिया यही पाई जाती है कि ग्रंथकार उस ग्रंथमें वर्णित विषयोंकी संक्षिप्त रूपरेखा ग्रन्थके प्रारंभमें लिखा करते थे। उसे ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयको सूची कह सकते हैं। इसीका आजकल कुछ विस्तृत रूप हो गया है और उसे भूमिका, प्रस्तावना, प्रास्ताविक, प्रस्तवन उपोद्घात, प्रारंभिक, दो शब्द, प्राक्कथन, आमुख आदि विभिन्न नामोंसे उल्लिखित किया जाता है।

श्री डॉ० दरबारी लालजी कोठिया-न्यायाचार्यने जो वीर-सेवा-मंदिर ट्रस्टके मानद मंत्री तथा 'युगवीर-समन्तभद्र-ग्रंथमाला'के सम्पादक और नियामक हैं. मुझसे प्रस्तुत ग्रन्थ 'सम्यक्-चारित्र-चिन्तामणि' की भूमिका लिखने का आग्रह किया। मैंने उनके आग्रहको सहर्ष स्वीकार कर समाजके प्रख्यात विद्वान् डॉ० पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य द्वारा लिखित प्रस्तुत ग्रन्थपर यह भूमिका लिख रहा हूँ।

भूमिका का अर्थ आधारशिला है। इस ग्रंथको आधारशिला क्या है, इसका प्रतिपाद्य विषय क्या है, लेखक विद्वान् इसे लिखनेमें कितने सफल हुए हैं इत्यादि अनेक बातों का स्पष्टीकरण ही भूमिका-लेखकका ध्येय होता है। यह एक प्रकारसे ग्रन्थका परिचय तथा उसकी समालोचनाका रूप भी बन जाता है। सामान्य पाठक इसे पढ़कर ग्रन्थका हृद्य जान लेता है और फिर उसकी विस्तृत व्याख्याको ग्रन्थमें पढ़ता है तो उसे आनन्द भी आता है तथा ज्ञान-वृद्धि भी होती है।

सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र जिनागमके प्रतिपाद्य मुख्य विषय हैं। अनेकानेक ग्रन्थ इन पर जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत हैं। उसी शृङ्खला में डॉ० पन्नालाल जी के दो ग्रन्थ 'सम्यक्त्व-चिन्तामणि' और 'सज्ज्ञान चन्द्रिका' इसी ग्रन्थमालासे प्रकाशित हो चुके हैं। यह तृतीय ग्रन्थ 'सम्यक्-चारित्र-चिन्तामणि' भी उसीसे प्रकाशित हो रहा है, यह स्तुत्य है। ये तीनों कृतियाँ संस्कृत-भाषामें तथा विविध छन्दोंमें लिखी गई हैं। इस ग्रन्थमें १५ छन्दोंका उपयोग किया गया है, जिसकी सूची भी अन्यत्र प्रकाशित है। इस कृतिमें भी पहलेकी दो कृतियोंके समान मूल जिनागमके विविध ग्रन्थोंमें वर्णित (उपदिष्ट)

विषयको बहुत सावधानीसे निबद्ध किया गया है। मूल ग्रन्थकर्त्ता तो इस युगमें श्री १००८ भगवान् महावीर ही हैं, उनकी दिव्यवाणीके अनुसार गौतम गणधर स्वामीने द्वादशांग रूप रचनाकी और काल-क्रमसे आचार्योंकी गुरु-शिष्य परम्परामें मौखिक रूपमें प्रदत्त इस उपदेशमें क्षीणता आती रही, तब अंग पूर्व के अंशमात्र ज्ञानको आचार्य धरसेनसे उनके दो शिष्योंने प्राप्तकर, जिनके प्रख्यातनाम भूतिबली और पुष्पदन्त हैं, उसे पुस्तकारूढ़ किया।

इसी परम्परामें अनेक जैनाचार्योंकी अनेक कृतियाँ ग्रन्थके रूपमें उपलब्ध हैं। उसी जिनागमकी समागत परम्पराको सुरक्षित रखनेका यह डॉ० पन्नालालजीका सुप्रयास है। संस्कृत-भाषामें गद्य और विशेष-कर पद्य-लेखन कार्यमें वर्तमानके विद्वत्वर्गमें डॉ० पन्नालाल जी अग्रणी हैं।

सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है और इसके विपरीत मिथ्या-दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही संसारकी पद्धति (मार्ग) है। यह बात रत्नकरण्ड-श्रावकाचारमें अपने प्रारम्भिक कथनमें ही पूज्य आचार्य समन्तभद्र स्वामी लिख गये हैं।

जीवके कल्याणके लिए ही सम्यग्-दर्शनादि तीनका वर्णन है। इन्हें जिनागममें रत्नत्रय कहा गया है। यद्यपि ये तीनों आत्म-गुण हैं। जब कि रत्न, जिन्हें हीरा, पन्ना, मणि, माणिक्य आदि नामोंसे कहा जाता है, जड़, अचेतन पदार्थ हैं और इस दृष्टिसे सचेतनके श्रेष्ठ गुणोंको अचेतन रत्नोंके साथ जो यथार्थमें एक भिन्न प्रकारके पत्थरके टुकड़े हैं—समता मिलाना संगत प्रतीत नहीं होता, फिर आचार्योंने उन तीनों-को रत्नकी उपमा दी है, ऐसा क्यों ? यह एक प्रश्न तो है।

विचार करनेपर यह समझमें आता है कि यह अज्ञानी संसारी प्राणी निजकी महत्ताको भूलकर इन अचेतन रत्नोंको सर्वश्रेष्ठ मानता है तथा इस मोही (मूढ़) को इसकी भाषामें ही इन तीनों आत्म-गुणों की महत्ता समझानी होगी इसके बिना यह उनकी कीमत न करेगा, इसलिए रत्नोंके साथ समता न होते हुए भी समता मिलाई है।

यह बात सुप्रसिद्ध है और प्रत्येक प्राणीके अनुभवगोचर है कि यह संसार दुःखमय है और सुखकी प्रक्रियाके विरुद्ध है। अतः सभी मत-मतान्तरों में मोक्ष-निर्वाण-श्रेय परमात्म-प्राप्ति आदिके नामपर संसारके कारण-विषय-कषायोंको छोड़कर साधना करने वाले साधुपद-

धारो होते हैं जो गृहस्थाश्रमका त्याग करते हैं। आचार्य समन्तभद्रने लिखा है कि—संसार अशरण है, अशुभ है; अनित्य है, दुःखरूप है तथा अनात्मरूप है। इसके विपरोत संसारसे मुक्ति शरणरूप है, शुभरूप है, नित्य-स्थायी है, सुखरूप है तथा आत्मके स्वस्वभावरूप है।

इसी आत्म-स्वभावकी प्राप्तिके लिए सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। इन तीनोंके ऐक्यको ही मोक्षका मार्ग कहा है। एक-एकसे या दो-दोसे मुक्ति सम्भव नहीं है, अतः तोनोंकी एकताको ही उमा स्वामीने तत्त्वार्थ-सूत्रमें प्रथम सूत्र द्वारा मोक्षमार्ग प्रतिपादित किया है। सम्यक्त्व चारों गतियोंमें किन हो जोवोंमें पाया जाता है, सम्यक्ज्ञान भी उसो कारण हो जाता है, परन्तु सम्यक्चारित्र मात्र मनुष्य पर्यायमें हो हो सकता है, अन्यत्र नहीं। यद्यपि देश-चारित्र किसो-किसो तिर्यञ्चमें भी पाया जाता है, पर उसकी बड़ी विरलता है और वह स्वर्ग जानेका कारण बनता है, मोक्षका कारण नहीं। सकल-चारित्र मनुष्योंमें उनमें भी कर्मभूमिके मनुष्यों में पाया जाता है। कर्मभूमिके भो उत्सर्पिणोके तृतोय कालमें और अवसर्पिणीके चतुर्थ कालमें हो सम्भव है—पंचम, षष्ठ कालमें नहीं। जो अपवाद-पद्धतिमें पंचमकालके प्रारम्भमें मुक्ति-पधारे वे भो चतुर्थकालमें उत्पन्न हुए थे। हाँ इस हुण्डावसर्पिणो कालमें तृतोय कालमें भी मुक्तिगमनका अपवाद पाया जाता है, पर सामान्य नियम तो यहो है, जिसका ऊपर विवरण किया है।

सम्यक्-चारित्र दो रूपोंमें देखा जाता है, एक तो आभ्यन्तर परिणाम विशुद्धिके रूपमें और दूसरा आन्तरिक शुद्धि वालेको बाह्य क्रियाके रूपमें। आभ्यन्तर चारित्रके साथ-साथ जो साधकका बाह्याचरण है वही व्यवहारसे चारित्र कहा जाता है क्योंकि वह शरोराश्रित क्रिया है। प्रकारान्तरसे यह कहा जा सकता है कि आन्तरिक क्रिया आत्म-विशुद्धि है और शारोरिक क्रिया उसीका बाह्यरूप है। चूंकि देह-पर है अतः उसको क्रिया पराश्रित होने से व्यवहारनय से चारित्र है और आभ्यन्तर-शुद्धि आत्मपरिणमन रूप क्रिया है, अतः वह निश्चयसे चारित्र है।

निश्चयचारित्र मोक्षका साक्षात्कारण और व्यवहार-चारित्र उस आभ्यन्तरको शुद्धिका कारण है। यदि साधक आन्तरिक शुद्धिका प्रयत्न न करे और मात्र बाह्य आचार आगमानुसार भी करे तो उससे मोक्ष नहीं होता। इनमें साध्य-साधक भाव हो तो दोनोंको भी कारण मान लेते हैं। निश्चयचारित्रको मुक्तिका साक्षात् कारण और तत्साधक व्यवहार-

को परम्परा कारण माना जाता है। तथापि आन्तरिक शुद्धिके अभावमें बाह्यक्रिया मोक्षका कारण नहीं।

प्रस्तुत ग्रन्थमें व्यवहारतः चारित्रका वर्णन है जो साधकके लिए अनिवार्य है।

सम्यक्-चारित्रका लक्षण

"कर्मादान क्रियो परमः चारित्रम्" कहा गया है बन्धके कारण पाँच प्रत्यय माने गये हैं। उनके नाम हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। भगवान केवलीके भी पूर्वके चार प्रत्ययों का अभाव होनेपर भी योगके सद्‌भावमें परमोत्कृष्ट चारित्र नहीं माना गया। उसके अभावमें हो रत्नत्रयको पूर्णता है तभी तीनोंको एकता होती है और वही मोक्षका साक्षात् कारण बनता है।

सम्यक्त्वके आधारपर चतुर्थ-गुणस्थान होता है। पंचममें मात्र देश-चारित्र होता है। मुनि अवस्था षष्ठ गुणस्थानसे लेकर अन्तिम चौदहवें तकको है। इनमें १३वाँ, १४वाँ केवलो अवस्थाके हैं। इनमें छठेंसे बारहवें तक गुणस्थान छद्‌मस्थ मुनियोंके हैं। सप्तम (सातिशय) अप्रमत्तसे ११वें तक उपशम श्रेणो और ७वें से १२वें तक क्षपक श्रेणी ऐसी दो श्रेणी विभाजित है। क्षपक श्रेणो चढ़ने वाला ही मुक्तिको प्राप्त होता है पर उपशम श्रेणी वाला गिर कर नीचे आता है।

प्रस्तुत ग्रन्थमें इन सबका विशद विवेचन है। सामान्यतः दीक्षार्थी आचार्यके पास जाकर आत्म-कल्याणकी भावना प्रकट करता है तथा उसका मार्ग उनसे प्राप्त करनेकी इच्छा करता है। नियम यह है कि आचार्य कल्याणर्थीको पूर्ण महाव्रत स्वरूप साधुचर्याका स्वरूप बताते हैं और उसे ग्रहण करनेकी अनुज्ञा देते हैं। यदि दीक्षार्थी मुनिव्रतके पालनका साहस नहीं करता—अपनी कमजोरी प्रकट करता है तब आचार्य उसे देशचारित्र (श्रावक व्रत) का उपदेश देते हैं। इसी प्राचीन आगम पद्धतिको ध्यानमें रखकर इस ग्रन्थके लेखकने सर्वप्रथम साधु-धर्मका हो वर्णन किया है। प्रथमाध्यायमें साधुके मूलगुणोंका वर्णन किया है। द्वितोय अध्यायोंसे नवम अध्याय तक मुनिके पाँच प्रकारके संयमो १४ गुणस्थानों, १४ मार्गणास्थानों तथा ५ महाव्रतों, ५ समितियों का विशेष वर्णन करते हुए प्रसंगानुसार व्रतोंकी ५-५ भावनाओं इन्द्रिय-विजय साधुकी एषणा-वृत्ति षट्-आवश्यक ध्यान, तप अनित्यादि भावनाओंका विस्तृत वर्णन किया है। दशवें अध्यायमें

आर्यिका क्षुल्कक-ऐलकका भी वर्णन है तथा ग्यारहवेंमें सल्लेखना तथा बारहवें अध्यायमें श्रावक-धर्मका वर्णन है जिसमें पंचाणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, व्रतोंके अतीचार तथा ग्यारह प्रतिमाओं-के व्रतोंका विवेचन है। तेरहवें अध्यायमें व्रतों के धारण करने वालेके कर्मोंके क्षयोपशमादि अन्तरंग कारणोंका वर्णन है।

अन्त में एक परिशिष्ट है—शेष कथन जो रह गया है उसे इसमें निबद्ध किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ तेरह अध्यायोंमें परिशिष्ट-के साथ समाप्त होता है।

ग्रन्थके वर्णनीय विषयोंका संक्षिप्त परिचय यहाँ कराया गया है, विशद वर्णन तो ग्रन्थ में है ही, उसका विस्तार करना अनावश्यक है कुछ वर्णित विषय अधिक स्पष्टीकरण चाहते हैं। उनकी कुछ चर्चा करना यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

१. वृक्ष से तोड़े गए पत्र, पुष्प, फल सचित्त हैं या अचित्त इस पर लेखक ने वर्तमान गलत व्याख्याओं का निराकरण अध्याय ३, श्लोक २६ से ३५ में वनस्पतिकायिक जीवोंका वर्णन करते हुए भावार्थमें किया है कि एक वृक्षमें वृक्षका जीव अलग है और उसके आधारपर उत्पन्न होने वाले पत्तों व फलोंमें उसका जीव अलग रहता है.......... इस अपेक्षा वे सचित्त हैं.......आदि। इसपर यहाँ कुछ विशेष विचार किया जाता है।

आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचारमें स्पष्ट लिखा है—

"मूल-फल-शाक-शाखा-करीर-कन्द-प्रसून-बीजानि।
नामानियोऽत्ति सोऽयं सचित्तविरलोदयामूर्तिः॥"

इसमें वृक्षकी जड़, उसकी शाखा, पत्र-फल-फूल-कन्द-बीज सबको पृथक-पृथक सचित्त माना है और इनको कच्चा अर्थात् बिना अग्नि-पक्य द्वारा अचित्त किए खाने का सचित्त त्याग प्रतिमा वालेको स्पष्ट निषेध किया है। इससे वृक्षमें ये सब स्वयं अलग-अलग जीव वनस्पति-कायिक सचित्त योनि में ही हैं। यह आगम सिद्ध है। जिन लोगोंकी मान्यता इस प्रकारकी बनाई गई है कि मनुष्यके अंग-प्रत्यंगोंकी तरह ये वृक्षके अंग-प्रत्यंग हैं अतः जैसे नाना अंगों वाली मनुष्य देहमें मनुष्यका एक ही जीव है अंग-प्रत्यगोंका अलग नहीं है। यही नियम वृक्षके अंग-प्रत्यंगोंपर लगाना चाहिये—यह कथन सर्वथा विपरीत है उसके हेतु निम्न भाँति है—

(अ) एकेन्द्रियके अंगोपांग नामकर्मका उदय नहीं होता इसे गोकर्मकाण्डके एकेन्द्रिय जीवोंके उदय योग्य कर्मोंकी सूचीमें पढ़िये। न केवल वनस्पतिमें किन्तु पृथिवी, जल, वायु, अग्नि इन सभी एकेन्द्रियोंमें अंगोपांग नामकर्मका उदय नहीं होता। इस स्थितिमें पत्र-फल आदिको वृक्ष, शरीरके अंग प्रत्यंग मानना सर्वथा आगम विरुद्ध है।

(ब) अंगोपांग मनुष्यादिके टूट जानेपर फिर उत्पन्न नहीं होते, पर वृक्षोंके पत्र, फल, पुष्प प्रतिवर्ष अपनी ऋतु पर नए-नए होते हैं। अतः इसकी समता भी नहीं मिलती, बल्कि मनुष्यके पुत्र, पुत्री आदिकी तरह ये भी पृथक् आत्मा व पृथक् शरीर वाले ही सिद्ध होते हैं। सभी आगम ग्रन्थोंमें उनमें पृथक्-पृथक् जीव ही माना गया है।

(स) यदि इसका वर्तमान विज्ञानकी दृष्टिसे भी परीक्षण किया जाय तो पत्र-पुष्पादि पृथक् जीव ही सिद्ध होते हैं। कलकत्तामें सर जगदीशचन्द्र बसुकी प्रसिद्ध वानस्पतिक विज्ञानशालामें अनेक जैन विद्वानोंकी उपस्थितिमें परीक्षण कराया गया। यह प्रयत्न मेरे आग्रह पर स्व० बाबू छोटेलाल जी सरावगी (बेलगछिया) ने कराया था, जिससे एक घासके टुकड़े को तोड़कर मशीनमें फिटकर उसकी शरीर-संचरण-क्रिया द्वारा स्पष्ट हो गया था कि टूट जाने पर भी इसमें जीव है।

यद्यपि इसपर और भी प्रमाण व परीक्षण हैं तथापि यहाँ इतना ही स्पष्टीकरण पर्याप्त है।

जिनागम की मान्यतानुसार अतिथि संविभाग व्रतके अतिचारकी व्याख्या भी आचार्य पूज्यपादने सर्वार्थ-सिद्धिमें 'सचित्त कमल पत्रादौ' शब्द द्वारा कमलपत्र तथा आदि पदसे अन्य वृक्षोंके टूटे पत्तोंको सचित्त ही माना है। डॉ० पन्नालाल जीने इन प्रमाणोंका संक्षेपमें उल्लेख ग्रन्थमें किया ही है।

इस ग्रन्थके तृतीय प्रकाशमें लेखकने वर्तमान शिथिलाचारपर भी प्रकाश डाला है। लिखा है कि—

(अ) आर्यिका वृद्ध भी हो तो भी अकेली साधुके समीप न जाय, दो तीन मिलकर जायें और सात हाथ दूर रहकर ही धर्म-चर्चा करें। इस आचार-संहिता का पालन करना चाहिये—श्लोक ८२, ८३।

इस समय कई संघ साधुओंके ऐसे हैं, जिनमें इसका पालन नहीं होता। बल्कि उन संघोंका पूरा संचालन महिलाएँ ही करती हैं।

संघ-संचालनके लिए वे धन-संग्रह करती हैं और न केवल संघ-साधुओं पर, संघ के आचार्यपर भी अपना वर्चस्व रखती देखी जाती हैं।

यह सर्वदा आगम विरुद्ध कार्य है। जैन साधुओंकी पुरानी परम्परा-में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है कि महिलाएँ संघ-संचालन करती हों धन-संग्रह करती हों और संघस्थ साधुओंके आहारके लिए चौकेकी व्यवस्था करती हों।

(ब) इसी तृतीय प्रकाशमें अपरिग्रह महाव्रतका स्वरूप निर्देश करते हुए विद्वान लेखकने श्लोक संख्या ९३ से १०० तकके अर्थमें लिखा है कि—

जो मनुष्य पहिले परिग्रहका त्यागकर निर्ग्रन्थताको स्वीकारकर पीछे किसी कार्य के व्याज (बहाने) से परिग्रहको स्वीकार करता है वह कूपसे निकलकर पुनः उसी कूपमें गिरनेके लिए उद्यत है........। दिगम्बर मुद्राको धारणकर जो परिग्रहको स्वीकार करते हैं उनका नरक-निगोदमें जाना सुनिश्चित है।..... ...यदि निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण करने की तुम्हारी सामर्थ्य नहीं है तो हे भव्योत्तम ! तुम श्रद्धामात्र धारणकर संतुष्ट रहो।

इस प्रकरणमें लेखकने वर्तमान जैन साधुओंमें शिथिलाचारकी बढ़ती हुई प्रवृत्ति पर दुःख प्रगट करते हुए उसके निषेध करनेके लिए सम्बोधन किया है जो अति आवश्यक है।

स्व० ब्र० गोकुल प्रसाद जी मेरे पिता थे। स्व० पं० गोपालदासजी बरैयाके पास वे अध्ययनार्थ मोरेना गये थे। उनकी एक नोटबुकमें गुरुजी द्वारा कथित कुछ गाथाएँ लिखी हैं। उनमें एक गाथा इस प्रकार है—

भरहे पंचम काले जिणमुद्दाधार होई सग्गंथो।
तव यरणसील णासोऽणायारो जाई सो णिरये॥

अर्थात्—इस भरत क्षेत्रमें पञ्चमकालमें जिनमुद्रा (निर्ग्रन्थमुद्रा) धारणकर पुनः वह मुनि सग्रन्थ (सपरिग्रह) होगा वह अपने तपश्चरण और शीलका नाश करेगा तथा ऐसा अनगार (निर्ग्रन्थ) नरकको प्राप्त करेगा।

यह प्राचीन गाथा किसी प्राचीन ग्रन्थकी है। ग्रन्थका नाम उसमें नहीं है। विद्वान् लेखकका कथन इस आगम-गाथाके अनुसार सर्वथा संगत है।

सारे शिथिलाचारकी जड़ परिग्रहकी स्वीकारता है और उसके मूलमें महिलाओं द्वारा संघ-संचालन भी एक जबरदस्त कारण है। इस

पद्धतिसे परम्पराका नाश हो रहा है और अनर्थ बढ़ रहे हैं। इस पर अंकुश लगे बिना शिथिलाचार दूर न होगा।

श्वेताम्बर परम्पराके आचार-ग्रन्थोंमें भी ऐसा उल्लेख है कि आर्या (साध्वी) सौ वर्षको उम्रको हो, उसके समस्त अंग कुष्ठरोग द्वारा गलित हो चुके हों तो भी साधुको उससे एकान्तमें बात भी न करना चाहिये।

इस शिथिलाचारकी बढ़ती हुई प्रवृत्तिसे अनेक साधु कूलर-होटर, पालकी, वाहन आदिका भी उपयोग करने लगे हैं जो सर्वदा विपरीत है। इसका अन्त कहाँ होगा, यह चिन्तनीय हो गया है।

साधुओं व आर्यिकाओंको बिना पादत्राणके पैदल ही विहार करनेकी आज्ञा है ईर्यासिमितिका पालन करते हुए, परन्तु पालकोका उपयोग करने वालेकी ईर्यासमिति कैसे सधेगी? इसपर भी चतुर्थ अध्यायके श्लोक १४, १५ में प्रकाश डाला गया है।

ब्रह्मचारी प्रतिमाधारी श्रावक भी निर्जीव सवारीका उपयोग करते हुए भी सजीव सवारीका त्याग करते हैं। वे घोड़ा-बैलगाड़ी, तांगा, मनुष्यों द्वारा खींचे जाने वाले रिक्शा का त्याग करते हैं क्योंकि इनसे पशुओं और मनुष्योंको कष्ट उठाना पड़ता है तब पालकीको कैसे साधुके लिए ग्राह्य माना जा सकता है, जो चार हाथ भूमि निरखकर पांव बढ़ाते एवं ईर्या समिति पालते हैं?

पञ्चम प्रकाशमें इन्द्रिय-विजय पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। जनन-इन्द्रिय और रसना-इन्द्रिय ये दो इन्द्रियाँ हो मनुष्यको बलवान हैं। जननेन्द्रियपर विजय प्राप्तकर ब्रह्मचर्यको स्वोकार करने वाले महापुरुषोंको रसना-इन्द्रियपर भी अंकुश लगाना चाहिए, यह नितान्त आवश्यक है।

षष्ठ प्रकाशमें षडावश्यकोंका वर्णन है। इसमें एक जिन-स्तुतिमें भगवान महावीरकी स्तुतिमें नौ पद्य तथा चतुर्विंशति स्तुतिके चौबीस पद्य बहुत सुन्दर रचे गये हैं। साधुओंके साथ ही श्रावकोंको प्रतिदिन पढ़नेके लिए बहुत उपयोगी हैं।

इसी प्रकार प्रतिक्रमण आवश्यकका वर्णन करते हुए प्रतिक्रमण पाठकी भी नवीन रचना २५ पद्योंमें की है, जो बहुत उपयोगी है।

सप्तम प्रकाशमें पञ्चाचारका विशद वर्णन है। वीर्याचारका वर्णन करते हुए विविक्त शय्यासनमें अभ्रावकाश, आतापन योग तथा वर्षा योग इन तीन तपस्याओंके स्वरूपका यथोचित निदर्शन किया गया है।

अष्टम अध्यायमें बारह भावनाओंका सुन्दर चित्रण है, जो विशद है और श्रावक एवं साधुओंके लिये उपयोगी पाठ है। नवम अध्यायमें ध्यानका वर्णन है। दसवेंमें आर्यिकाओंके लिए विधि-विधान हैं। ग्यारहवेंमें सल्लेखनाका विधिवत् वर्णन है।

गृहस्थाचार (देशव्रत) का वर्णन १२वें प्रकाशमें किया गया है, जो अति संक्षेप रूप है। गृहस्थाचारका विशेष वर्णन होना चाहिये था, क्योंकि गृहस्थोंके लिए प्रतिपादित सभी ग्रन्थोंमें प्रायः १२ व्रत, उनके अतिचार और ११ प्रतिमाओंका संक्षिप्त विवरण ही पाया जाता है। इसका कुछ विशद वर्णन सागार-धर्मामृत और धर्मसंग्रह श्रावकाचारमें अवश्य है।

आजकी आवश्यकता है कि गृहस्थके लिए गृहस्थाचारका विशद वर्णन किया जाय। इससे गृहस्थोंका जो अज्ञान शिथिलाचार या अनाचार है, वह दूर होगा। दूसरे वर्तमानके बदले हुए जमानेमें गृहस्थ अपना धर्म कैसे पालें, उसे मार्ग-दर्शन मिलेगा। डॉ० पन्नालालजीसे मेरा अनुरोध है कि वे गृहस्थाचारका विशद वर्णन करने वाली एक पुस्तक अलगसे लिख देवें।

तेरहवें प्रकाशमें संयमासंयम-लब्धिका संक्षिप्त वर्णन है। इस प्रकार यह ग्रन्थ १३ प्रकाशों (अध्यायों) में समाप्त हुआ है।

अन्तमें परिशिष्ट जोड़ा गया है। इसमें वे विषय निबद्ध हैं, जो यथास्थान वर्णनमें छूट गए हैं या जिनका विशद वर्णन या स्पष्टीकरण आवश्यक समझा गया।

डॉ० श्री पं० पन्नालालजी साहित्याचार्यका यह प्रयत्न और परिश्रम सफल होगा और पाठक इसे पढ़कर लाभ उठावेंगे इस आशाके साथ विराम लेता हूँ।

जगन्मोहनलाल शास्त्री

श्री महावीर उदासीन आश्रम
कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र
पो० कुण्डलपुर (दमोह), म० प्र०
७-१०-१९८८

लेखकीय वक्तव्य

सम्यग्दर्शन धर्मका मूल अवश्य है, पर मात्र सम्यग्दर्शनसे मोक्ष-रूप फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती। मोक्ष-प्राप्तिके लिए तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे समन्वित सम्यक्-चारित्रको आवश्यकता है। जिस प्रकार मूलकी उपयोगिता वृक्षको हरा-भरा रखनेमें है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनकी उपयोगिता सम्यक्चारित्ररूपी वृक्षको हरा-भरा रखनेमें है, इसीलिये उमास्वामी महाराज ने 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' सूत्र द्वारा सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयकी पूर्णताको ही मोक्ष-मार्ग कहा है। सम्यक्त्व-चिन्तामणिमें सम्यग्दर्शनका और सज्ज्ञान-चन्द्रिका (अपर नाम सम्यग्ज्ञान-चिन्तामणि) में सम्यग्-ज्ञानका विस्तारसे वर्णन किया गया है। अब क्रमप्राप्त 'सम्यक्-चारित्र-चिन्तामणि' पाठकोंके हाथमें है। इसमें सकल-चारित्र और विकल-चारित्रका साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है।

समन्तभद्र स्वामीने हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह इन पांच पापोंके त्यागको चारित्र कहा है। उन पापोंका सकलदेश परित्याग करना सकल-चारित्र है और एकदेश त्याग करना विकल-चारित्र है। सकल-चारित्र मुनियोंके होता है और विकल-चारित्र गृहस्थोंके।

सकल-चारित्रमें पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्तियोंकी प्रधानता है, विकल-चारित्रमें पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका वैभव है। सकल-चारित्रके सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ये पांच भेद हैं। इनमें सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र छठवेंसे लेकर नवम गुणस्थान तक होते हैं, परिहार-विशुद्धि संयम छठवें और सातवें गुणस्थानमें होता है, सूक्ष्मसाम्पराय, एकदशम गुणस्थानमें ही होता है और यथाख्यात संयम ग्यारहवेंसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तक होता है। चौदहवें गुणस्थानमें जब परम यथाख्यात चारित्र होता है तब तत्काल मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। उसके बिना देशोन कोटि वर्ष तक यह मानव संसार-में अवस्थित रहता है। विकल-चारित्र (देश-चारित्र) एक पञ्चम गुणस्थानमें ही होता है। प्रारम्भके चार गुणस्थान असंयम रूप हैं।

आगममें चारित्रकी बड़ी महिमा बतलायी गई है। उससे मोक्षकी प्राप्ति होती है। यदि उसमें न्यूनता रहे तो उससे वैमानिकदेवकी आयु बँधती है। सकलचारित्रकी बात दूर रहो, देशचारित्रकी भी इतनी प्रभुता है कि उससे भी देवायुका ही बन्ध होता है। जिस जीव-के देवायुको छोड़कर अन्य किसी आयुका बन्ध हो गया है उसके उस पर्यायमें न अणुव्रत धारण करनेके भाव होते हैं और न महाव्रत धारण करने के।

नरकायुका बन्ध प्रथम गुणस्थान तक होता है; तिर्यञ्च आयुका बन्ध द्वितीय गुणस्थान तक होता है। तृतीय गुणस्थानमें किसी भी आयुका बन्ध नहीं होता। चतुर्थ गुणस्थानमें देव और नारकीके नियमसे मनुष्यायुका और मनुष्यके चतुर्थसे लेकर सप्तम गुणस्थान तक देवायुका ही बन्ध होता है। तिर्यञ्चके चतुर्थ और पञ्चम गुणस्थानोंमें देवायुका बन्ध होता है। अष्टमादि गुणस्थानोंमें किसी भी आयुका बन्ध नहीं होता। आयुका बन्ध किये बिना जो मनुष्य उपशम श्रेणी माँड़कर एकादश गुणस्थान तक पहुँच जाता है वह क्रमशः पतन कर जब सप्तम या उससे अधोवर्ती गुणस्थानोंमें आता है तभी आयुका बन्धकर तद-नुसार उत्पन्न होता है।

अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके गुणश्रेणी निर्जरा सदा नहीं होती जब स्वरूपकी ओर उसका लक्ष्य जाता है तब होती है। परन्तु सम्यक् दर्शन सहित एकदेश-चारित्रके धारक श्रावक और सकल-चारित्रके धारक मुनियोंके निरन्तर होती रहती है। समन्तभद्रस्वामीने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्रकी प्राप्तिका क्रम तथा उद्देश्य वर्णन करते हुए लिखा है—

मोहतिमिरापहरणे दर्शन लाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥

अर्थात् मोह (मिथ्यात्व) रूपी अन्धकारका नाश होनेपर सम्यग्-दर्शनके लाभपूर्वक जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसा भद्र परिणामी जीव रागद्वेषको दूर करने के लिए सम्यक्-चारित्रको प्राप्त करता है।

करणानुयोगके अनुसार जिस जीवके मिथ्यात्वके साथ अनन्तानु-बन्धी चतुष्क अप्रत्याख्यानावरण चतुष्कका अनुदय है और प्रत्याख्या-नावरण चतुष्क तथा सञ्ज्वलन चतुष्कका उदय है उसके देशचारित्र होता है और जिसके मिथ्यात्वके साथ अनन्तानुबन्धी चतुष्क अप्रत्या-

ख्यानावरण चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण चतुष्कका अनुदय तथा सञ्ज्वलन चतुष्क एवं हास्यादिक नो नोकषायोंका यथासम्भव उदय रहता है उसके सकलचारित्र होता है। सञ्ज्वलनचतुष्ककी भी तीव्र, मन्द और मन्दतर अवस्थाएँ होती हैं। षष्ठ गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थानतक इनका यथासम्भव उदय रहता है और उदयानुसार गुण-स्थानोंकी व्यवस्था बनती है।

कोई भवभ्रमणसे भव्य मानव जब निर्ग्रन्थचार्यके पास जाकर दिगम्बर दीक्षा की प्रार्थना करता है तो उसकी भावनाका परीक्षणकर आचार्य दिगम्बर साधुके मूलगुणोंका वर्णन करते हैं—पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पञ्चेन्द्रिय, विजय, छह आवश्यक और आचेलक्य आदि शेष सात गुण, सब मिलकर उनके २८ मूलगुण होते हैं। इस ग्रन्थमें मूलाचार आदि ग्रन्थोंके आधारपर इन मूलगुणोंका विस्तृत वर्णन किया गया है। मुनिव्रतमें दृढ़ता प्राप्त करनेके लिए अनित्यादि द्वादश अनुप्रेक्षाओंका भी कथन किया गया है। स्वाध्यायकी परिपक्वताके लिये मार्गणा और गुणस्थानोंकी भी किंचित् चर्चाकी गई है। मोहनीय कर्मकी उपशमना और क्षपणाविधिका भी अल्प प्रतिपादन किया गया है। षडावश्यकोंका वर्णन करते समय सामायिक, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सर्गको विस्तृत चर्चाकी गयी है। इसके पाठभी विविध छन्दोंमें रचे गये हैं, जिन्हें लयके साथ पढ़नेपर बड़ा आनन्द आता है।

इसी प्रकार आर्यिका-दीक्षाकी प्रार्थना करनेपर आर्यिकाओंके कर्तव्य-की विधि प्रदर्शितकी गयी है। अन्तमें श्रावकधर्मकी उत्पत्ति और प्रवृत्तिका वर्णन किया गया है। परिशिष्टमें अनेक उपयोगी विषयोंका संकलन है।

पाण्डुलिपि तैयार होनेपर अहारजीमें चातुर्मासके समय पूज्यवर आचार्य विद्यासागर जीके पास वह परीक्षणार्थ भेजी गई थी। प्रसन्नता की बात है कि उन्होंने ब्र० राकेश जीके साथ इसका आद्योपान्त वाचन कर जो संशोधन या परिवर्तन सुझाये थे, यथास्थान कर दिये गये।

इस सम्यक् चारित्र-चिन्तामणिकी रचना खुरईकी वाचनाके बाद हुयी। अतः वाचनमें रखे गये कषायपाहुड, पुस्तक १३ की चर्चाओंसे यह ग्रन्थ प्रभावित है। कषाय-पाहुडके कुछ स्थल शंका-समाधानके रूपमें उद्धृत भी किये गए हैं।

वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्टसे उसके मानद मंत्री श्री डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया द्वारा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका निरूपण करने वाले सम्यक्त्व-चिन्तामणि और सम्यक्ज्ञान-चिन्तामणि ये दो ग्रन्थ पहले प्रकाशित हो चुके हैं, जो विद्वज्जनोंके द्वारा समीक्षित और समादृत हुए हैं। अब उसी ट्रस्टसे उन्हीं डॉ० कोठियाजीके द्वारा इस सम्यक्-चारित्र-चिन्तामणिका भी प्रकाशन हो रहा है। इसकी प्रसन्नता है।

ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय जिन मूलाचार, मूलाराधना तथा कषाय-पाहुड आदि सिद्धान्त-ग्रन्थोंसे लिया गया है, मैं उनके रचयिताओंका विनीत आभारी हूँ। पद्य-रचना और तत्त्व-निरूपणमें हुई त्रुटियोंके लिये विद्वद्वर्गसे क्षमाप्रार्थी हूँ। इन्हें वे सौहार्दभावसे पढ़ें और सूचित करें कि इसमें आगमके विरुद्ध तो कहीं कुछ नहीं लिखा गया है। तीनोंमें लगभग साढ़े तीन हजार श्लोकोंकी रचना विविध छन्दोंमें हुई है। यह मेरे जीवन-निर्माता पूज्यवर गणेशप्रसादजी वर्णीके शुभाशीर्वादका ही फल है।

ग्रन्थकी भूमिका जैनागमके मर्मज्ञ पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्रीने लिखनेकी कृपा की है। एतदर्थ उनका आभारी हूँ। ग्रन्थका प्रकाशन वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्टके मानद मंत्री डॉ० दरबारीलालजी कोठियाके सौजन्यसे सम्पन्न हुआ है, अतः उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

विनीत
पन्नालाल जैन

श्री वर्णी दि० जैन गुरुकुल
पिसनहारीकी मढ़िया,
जबलपुर
वर्णी जयन्ति-आश्विन कृष्ण ४
वीरनि० २५१४



सम्यक्चारित्र-चिन्तामणिमें प्रयुक्त छन्द

१. उपजाति
२. वसन्ततिलका
३. स्रग्धरा
४. अनुष्टुप्
५. भुजङ्गप्रयात
६. आर्या
७. शालिनी
८. इन्द्रवज्रा
९. वंशस्थ
१० द्रुतविलम्बित
११. मालिनी
१२. स्वागता
१३. हरिणी
१४. शार्दूलविक्रीडित
१५ प्रमाणिका



विषयानुक्रमणिका



सम्यक्चारित्र-चिन्तामणिः

प्रथम प्रकाश

सामान्यमूलगुणाधिकार

अब 'सम्यक्त्व-चिन्तामणि'के द्वारा सम्यग्दर्शन और 'सज्ज्ञान-चन्द्रिका'के द्वारा सम्यग्ज्ञानका वर्णन करनेके पश्चात् सम्यक्चारित्र-का वर्णन करनेके लिये 'सम्यक्चारित्र-चिन्तामणि' ग्रन्थका प्रारम्भ करते हैं। निर्विघ्न ग्रन्थ-समाप्तिके लिये प्रारम्भमें मङ्गलाचरण करते हैं।

ध्यानानले येन हुताः समस्ता रागादिदोषा भवदुःखदास्ते ।
आर्हन्त्यविद्याजितमत्र वन्दे जिनं जितानन्तभवोग्रदाहम् ॥ १ ॥

अर्थ—जिन्होंने सांसारिक दुःख देने वाले उन प्रसिद्ध रागादिक समस्त दोषोंको ध्यानरूपी अग्निमें होम दिया है, जो अष्ट प्रातिहार्य-रूप आर्हन्त्य पदसे सुशोभित हैं तथा जिन्होंने अनन्त भवसम्बन्धी तीव्र दाहको जीत लिया है—नष्ट कर दिया है, उन जिनेन्द्र भगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

निहत्य कर्माष्टकशत्रुसैन्यं लोकाग्रमध्ये निवसन्ति ये तान् ।
सिद्धान् विशुद्धान् जगति प्रसिद्धान् वन्दे सदाहं निजभावशुद्ध्यै ॥ २ ॥

अर्थ—जो अष्टकर्म समूहरूप शत्रुकी सेनाको नष्टकर लोकके अग्र-भागमें निवास करते हैं, जो विशुद्ध हैं तथा जगत्में प्रसिद्ध हैं उन सिद्ध परमेष्ठियोंको मैं अपने भावोंकी शुद्धिके लिये सदा नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

आचार्यवर्यान् गुणरत्नधुर्यान् बहुश्रुतान् विश्वहितप्रसक्तान् ।
साधून् सदा श्रायससाधनोत्कान् नमामि नित्यं वर भक्तिभावात् ॥ ३ ॥

अर्थ—गुणरूपी रत्नोंसे श्रेष्ठ उत्तम आचार्योंको, सब जीवोंके हितमें संलग्न उपाध्यायोंको और सदा आत्मकल्याणके सिद्ध करनेमें उत्कण्ठित साधुओंको मैं उत्कृष्ट भक्तिभावसे नित्य ही नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

सम्यग्व्यवस्थां प्रविधाय यः प्राक् सम्पालयामास प्रजासमूहम् ।
विरज्य पश्चाद् भवतो जनालीं प्रदर्शयामास शिवस्य वर्त्म ॥ ४ ॥

तमादिदेवं सुरजातसेवं भव्यौघवन्द्यं जनताभिनन्द्यम्।
गुणैर्लसन्तं महसा हसन्तं विश्वान्य देवान् कृतरागिसेवान् ।। ५ ।।
प्रणम्य भक्त्या भवभञ्जनाय चारित्रचिन्तामणिमत्र वक्ष्ये।
ये सन्ति केचिन्मतिमान्द्यभाजस्तेषां कृतेऽयं मम सत्प्रयासः ।। ६ ।।
अतो न विद्वज्जनमाननीयैर्बुधैर्विधेयं मयि दौर्मनस्यम्।
श्रुतस्य सेवा महनीय कार्यमित्येव हेतोरहमत्र लग्नः ।। ७ ।।
यो वर्तते यस्य निसर्गजातो न तस्य लोपः सहसा प्रसाध्यः।
चारित्रचिन्तामणिरेव लोके चिरुप्याभिदाने सततं प्रसिद्धः ।। ८ ।।

अर्थ—जिन्होंने पहले समीचीन व्यवस्थाकर प्रजा-समूहका पालन किया था और पश्चात् संसारसे विरक्त हो सब लोगोंको मोक्षका मार्ग दिखलाया था, देवोंने जिनकी सेवाकी थी, जो भव्यसमूहके द्वारा वन्दनीय थे, जनसमूहके अभिनन्दनीय थे, गुणोंसे शोभायमान थे तथा रागी मनुष्योंके द्वारा सेवित संसारके अन्य देवोंकी जो अपने तेजसे हँसी कर रहे थे उन आदिदेव—वृषभनाथ भगवान्को मैं संसार परिभ्रमणका नाश करनेके लिये भक्तिसे प्रणाम कर यहां 'चारित्र-चिन्तामणि' ग्रन्थको कहूंगा। इस संसारमें जो कोई बुद्धिकी मन्दतासे युक्त हैं उनके लिये मेरा यह सत्प्रयास है। अतः विद्वज्जनोंके द्वारा माननीय ज्ञानीजन मेरे ऊपर दौर्मनस्य न करें—इसने यह ग्रन्थ क्यों रचा, ऐसा भाव न करें। श्रुतकी सेवा करना एक अच्छा कार्य है, इसी हेतुसे मैं इस कार्यमें संलग्न हुआ हूँ। जिसका जो निसर्ग जात-स्वभाव होता है उसका लोप भी तो सहसा नहीं किया जा सकता। इस जगत्में चारित्ररूपी चिन्तामणि ही अभिलषित पदार्थोंके देनेमें निरन्तर प्रसिद्ध है, अतः उसका वर्णन करता हूं ।। ४-८ ।।

आगे चारित्रका लक्षण कहते हैं—

संसारकारणनिवृत्तिपरायणानां
या कर्मबन्धननिवृत्तिरियं मुनीनाम्।
सा कथ्यते विशदबोधधरैर्मुनीन्द्रै-
श्चारित्रमत्र शिवसाधनमुख्यहेतुः ।। ९ ।।

अर्थ—संसारके कारण मिथ्यात्व तथा हिंसादि पापोंकी निवृत्ति करनेमें तत्पर मुनियोंकी जो कर्म-बन्धनसे निवृत्ति है—कर्मबन्धनके कारणोंको दूर करनेका प्रयास है वही निर्मल ज्ञानके धारक मुनिराजों-

के द्वारा चारित्र कहा जाता है। इस जगत्में चारित्र ही मोक्ष प्राप्तिका प्रमुख हेतु माना गया है ॥ ९ ॥

अथवा

मोहध्वान्तापहारे प्रकटितविशदज्ञानपुञ्जो जनो यो
रागादीनां निवृत्यै परिहरति सदा पापतापं दुरन्तम् ।
चारित्रं तन्मुनीन्द्रैः शिवसुखसदनं कीर्त्यते कीर्तिपात्रै-
राचार्यैरात्मनिष्ठैर्निखिलगुणधरैः स्वात्मसंवेदनाढ्यैः ॥१०॥

अर्थ—मोह—मिथ्यात्वरूपी अन्धकारके नष्ट हो जानेपर प्रकट होने वाले निर्मल ज्ञान समूहसे युक्त मनुष्य, रागादिक विभाव भावों को नष्ट करनेके लिए जो सदा दुःखदायी पापरूपी सन्तापका त्याग करता है वही आत्मनिष्ठ—आत्मध्यानमें लीन, समस्त गुणोंका धारक तथा स्वात्मानुभूतिसे युक्त यशस्वी, मुनिराज आचार्योंके द्वारा चारित्र कहा जाता है। यह चारित्र मोक्ष सुखका सदन है—अर्थात् चारित्रसे ही मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

अथवा

आत्मस्वभावे स्थिरता मुनीनां या वर्तते स्वात्मसुखप्रदात्री ।
सा कीर्त्यते निर्मलबोधवद्भिश्चारित्र नाम्ना परमार्थतश्च ॥ ११ ॥

अर्थ—निश्चयनयसे मुनियोंकी, स्वात्मसुखको देनेवाली जो आत्मस्वभावमें स्थिरता है वही निर्मल ज्ञानधारी मुनियोंके द्वारा चारित्र कहा जाता है ॥ ११ ॥

अथवा

हिंसादिपापाद् व्यवहारतो या भवेन्मुनीनां विनिवृत्तिरेषा ।
चारित्रनाम्ना भुवि सा प्रसिद्धा कर्मौघकक्षानल पुञ्जभूता ॥ १२ ॥

अर्थ—व्यवहारनयसे—चरणानुयोगकी पद्धतिसे मुनियोंकी जो हिंसादि पापोंसे निवृत्ति है वही पृथिवीपर चारित्र नामसे प्रसिद्ध है। यह चारित्र कर्मसमूहरूप वनको भस्म करनेके लिये अग्नि समूहके समान है ॥ १२ ॥

आगे चारित्रको कौन मनुष्य प्राप्त होता है, यह कहते हैं—

मोहस्य प्रकृतीः सप्त हत्वा प्राप्तसुदर्शनः ।
कर्मभूमिसमुत्पन्नो नरो भव्यत्वभूषितः ॥ १३ ॥
तत्त्वज्ञानयुतो भीतो भवभ्रमणसन्ततेः ।
आजवं जवसिन्धोश्च तीरं प्राप्य प्रसन्नधीः ॥ १४ ॥

प्रत्याख्यानावृतेर्जातेऽनुदये शान्तिभूषितः ।
चारित्रं लभते कश्चित् सति सञ्ज्वलनोदये ।। १५ ।।
संयमलब्धिरित्येषाऽबद्धायुष्कस्य सम्भवेत् ।
बद्धदेवायुषो वा स्यान्नान्यस्य जातुचिद् भवेत् ।। १६ ।।
बद्धदेवेतरायुष्कोऽणुव्रतं वा महाव्रतम् ।
सन्धर्तुं नैव शक्नोति नियोगादिह जन्मनि ।। १७ ।।

अर्थ—मोहनीयकी सात प्रकृतियोंको नष्टकर उपशम, क्षय या क्षयोपशमकर जिसने सम्यग्दर्शन प्राप्तकर लिया है, जो कर्मभूमिमें उत्पन्न है, भव्यत्वभावसे सहित है, तत्त्वज्ञानसे युक्त है, संसार-भ्रमणकी सन्ततिसे भयभीत है तथा संसाररूपी समुद्रका तट प्राप्त होनेसे जिसकी बुद्धि प्रसन्न है—संक्लेशसे रहित है, प्रत्याख्यानावरण कषायका अनुदय होनेसे जो शान्तिसे विभूषित है ऐसा कोई मनुष्य संज्वलन तथा नोकषायोंका यथासम्भव उदय रहते हुए चारित्रको प्राप्त होता है। यह संयमलब्धि—चारित्रकी प्राप्ति उस मनुष्यको होती है जो अबद्धायुष्क है अर्थात् जिसने अभी तक परभव सम्बन्धी आयुका बन्ध नहीं किया है और यदि किया है तो देवायुका ही बन्ध किया है अन्य किसीको यह संयमलब्धि प्राप्त नहीं होती। क्योंकि ऐसा नियम है कि जिसने देवायुके सिवाय अन्य आयुका बन्ध कर लिया है ऐसा जीव इस जन्ममें न तो अणुव्रत धारण करनेमें समर्थ होता है और न महाव्रत धारण करनेमें। तात्पर्य यह है कि संयमलब्धि और संयमासंयम लब्धि उपर्युक्त जीवको ही होती है ।। १३-१७ ।।

आगे मुनिदीक्षा लेनेवाला मनुष्य क्या करता है, यह कहते हैं—

बन्धुवर्गं समापृच्छय भङ्क्त्वा स्नेहस्य बन्धनम् ।
पञ्चाक्षीविजयं कृत्वा विरक्तो देहपोषणात् ।। १८ ।।
विपिने मुनिभिर्युक्तं करुणाकरसन्निभम् ।
अवाग्विसर्गं वपुषा मोक्षमार्गनिरूपकम् ।। १९ ।।
गुरुं सम्प्राप्य तत्पाद-युगलं विनमन्मुदा ।
प्रार्थयते-दयासिन्धो ! मां तारय भवार्णवात् ।। २० ।।
न मे कश्चिद् भवे नाहं वर्ते कोऽपि कस्यचित् ।
भवत्पादद्वयं मुक्त्वा शरणं नैव विद्यते ।। २१ ।।
दत्त्वा निर्ग्रन्थसन्दीक्षां तारयेह भवाब्धितः ।
इत्थं सम्प्रार्थ्य तत्पादद्वन्द्वदत्तविलोचनः ।। २२ ।।

अश्रुसिक्तमुखस्तिष्ठेत् तस्य वागमृतोत्सुकः ।

अर्थ—मुनि दीक्षा धारण करनेके लिये उत्सुक भव्यमानव, बन्धुवर्गसे पूंछकर, स्नेहरूपो बन्धनको तोड़कर तथा पञ्च इन्द्रियोंपर विजय प्राप्तकर शरीर पोषणसे विरक्त होता हुआ वनमें उन गुरुके पास जाता है जो अनेक मुनियोंसे सहित हैं, दयाके मानों सागर हैं और वचन बोले विना ही शरीर द्वारा—शरीरकी शान्तमुद्राके द्वारा ही मोक्ष-मार्गका निरूपण कर रहे हैं। गुरुके पास जाकर वह उनके चरण युगल को नमस्कर करता हुआ हर्षपूर्वक प्रार्थना करता है—हे दयाके सागर! मुझे संसाररूपो सागरसे तारो—पार करो। संसारमें मेरा कोई नहीं है और मैं भो किसोका कुछ नहीं हूँ, आपके चरण-युगलको छोड़कर अन्य कुछ शरण नहीं है, अतः आप निर्ग्रन्थ दीक्षा देकर इस संसार-सागरसे पार करो। इस प्रकार प्रार्थना कर वह गुरुके चरणयुगलपर दृष्टि लगाकर चुप बैठ जाता है। उस समय उसका मुख आँसुओंसे भींग रहा होता है और वह गुरुके वचनामृतके लिये उत्सुक रहता है ॥ १८-२२ ॥

आगे गुरु क्या कहते हैं, यह बताते हैं—

गुरुः प्राह महाभव्य ! साधु संचिन्तितं त्वया ॥ २३ ॥
संसारोऽयं महादुःखवृक्षकन्दोऽस्ति सन्ततम् ।
श्रेय एतत्परित्यागे नादाने तस्य निश्चितम् ॥ २४ ॥
गृहाण मुनिदीक्षां त्वमेषैव भवतारिणी ।
साधुमूलगुणान् वच्मि शृणु ध्यानेन तानिह ॥ २५ ॥

अर्थ—गुरु ने कहा—हे महाभव्य ! तुमने ठोक विचार किया है। यह संसार सदा महादुःखरूपो वृक्षका कन्द है। इसका त्याग करनेमें कल्याण निश्चित है, ग्रहण करनेमें नहीं। तुम मुनि दीक्षा ग्रहण करो, यही संसारसे तारनेवाली है। मैं मुनियोंके मूलगुण कहता हूँ उन्हें तुम ध्यानसे सुनो ॥ २३-२५ ॥

आगे मूलगुणोंके अन्तर्गत पाँच महाव्रतोंका संक्षिप्त स्वरूप कहते हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहो ।
एतानि पञ्च कथ्यन्ते महाव्रतानि सूरिभिः ॥ २६ ॥
त्रसस्थावरजीवानां हिंसायाः वर्जनं नृभिः ।
अहिंसा नाम विज्ञेयं महाव्रतमनुत्तमम् ॥ २७ ॥

सूक्ष्मस्थूलविभेदेन द्विविधं वर्ततेऽनृतम् ।
तस्य त्यागो नृणां ज्ञेयं सत्यं नाम महाव्रतम् ॥ २८ ॥
सर्वथा परवस्तूनां त्यागो ह्यस्तेयमुच्यते ।
दाराः स्वपरभेदेन द्विविधाः परिकीर्तिताः ॥ २९ ॥
मनुजैस्तत्परित्यागो ब्रह्म नाम महाव्रतम् ।
बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधोऽस्ति परिग्रहः ॥ ३० ॥
तस्य त्यागो नृभिर्यस्तु सोऽपरिग्रह उच्यते ।
महाव्रतस्वरूपं वै गदितं ते समासतः ॥ ३१ ॥

अर्थ—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये आचार्यों द्वारा पाँच महाव्रत कहे गये हैं। मनुष्य जो त्रस और स्थावर जीवोंको हिंसाका त्याग करते हैं वह अहिंसा महाव्रत है। सूक्ष्म और स्थूलके भेदसे असत्य दो प्रकारका है। मनुष्योंके जो दोनों प्रकारके असत्यका त्याग है वह सत्य महाव्रत है। बिना दी हुई परवस्तुओंका सर्वथा त्याग करना अचौर्य महाव्रत है। स्व और परके भेदसे स्त्रियाँ दो प्रकारकी कही गई हैं, उनका मनुष्यों द्वारा जो त्याग होता है वह ब्रह्मचर्य नामका महाव्रत है। बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे परिग्रह दो प्रकारका है। मनुष्यों द्वारा उसका जो त्याग किया जाता है, वह अपरिग्रह महाव्रत कहलाता है। इस प्रकार मैंने तुम्हारे लिये संक्षेपसे पाँच महाव्रतोंका स्वरूप कहा है ॥ २६-३१ ॥

आगे पाँच समितियोंका स्वरूप कहते हैं—

ईर्याभाषैषणादानन्यासव्युत्सर्गसंज्ञिताः ।
महाव्रतस्य रक्षार्थं ज्ञेयं समितिपञ्चकम् ॥ ३२ ॥
दिवादण्डमितं भूमीभागं दृष्ट्वा मुनीश्वरैः ।
गम्यते यत् सुविज्ञेया ह्यीर्यासमितिरत्र सा ॥ ३३ ॥
हिता मिता प्रिया वाणी मुनिभिर्या समुच्यते ।
भाषासमितिरुक्ता सा सत्यवाग्धिपैर्जिनैः ॥ ३४ ॥
एकवारं दिवा भुङ्क्ते मुनिर्यत्पाणिपात्रयोः ।
एषणा समितिर्ज्ञेया साधुकल्याणकारिणी ॥ ३५ ॥
ज्ञानोपकरणादीनां समीक्ष्यादानसंस्थिती ।
आदानन्याससंज्ञा सा समितिर्बुधसम्मता ॥ ३६ ॥
मलमूत्रादिबाधाया निवृत्तिर्गतजन्तुके ।
धामनि क्रियते या सा व्युत्सर्गसमितिर्मता ॥ ३७ ॥

अर्थ—ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-न्यास (आदान-निक्षेप) और व्युत्सर्ग ये पाँच समितियां महाव्रतोंकी रक्षाके लिये कहीं गई हैं। मुनिराज दिनमें जो चार हाथ जमीन देखकर चलते हैं वह ईर्या समिति है। मुनि जो हित-मित प्रिय वाणीको बोलते हैं उसे सत्य वचनके स्वामी जिनेन्द्र भगवान्‌ने भाषा समिति कहा है। मुनि दिनमें एक बार जो यथाविधि पाणिपात्रमें भोजन करते हैं वह साधुओंका कल्याण करने वाली ऐषणा समिति जानने योग्य है। ज्ञानके उपकरण शास्त्र, शौचके उपकरण कमण्डलु और संयमके उपकरण पीछी आदिको देखकर उठाना रखना आदान-न्यास (आदान-निक्षेपण) समिति ज्ञानी जनोंके द्वारा मानी गई है। जीवरहित स्थानमें मुनियों द्वारा जो मलमूत्र आदिकी बाधासे निवृत्ति की जाती है वह व्युत्सर्ग या प्रतिष्ठापना समिति मानी गयी है॥ ३२-३७॥

आगे पञ्च-इन्द्रिय-जयका वर्णन करते हैं—

स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रवणमेव च।
हृषीकाणि समुच्यन्ते सम्यग्ज्ञानधरैर्नरैः॥ ३८॥
हृषीकाणां जयः कार्यः साधुदीक्षासमुद्यतैः।
ये हि दासा हृषीकाणां तेषां दीक्षा क्व राजते॥ ३९॥
कामिनीकोमलाङ्गे च रूक्षे पाषाणखण्डके।
रागद्वेषौ न यस्य स्तः स भवेत् स्पर्शनोज्जयी॥ ४०॥
इष्टानिष्टरसे भोज्ये माध्यस्थ्यं यस्य विद्यते।
रसनाक्षजयस्तस्य शस्यते भुवि साधुभिः॥ ४१॥
सौगन्ध्ये चापि दौर्गन्ध्ये माध्यस्थ्यं न जहाति यः।
घ्राणाक्षविजयी स स्यात् कर्मक्षपणतत्परः॥ ४२॥
मनोज्ञे ह्यमनोज्ञे च रूपे यस्य न विद्यते।
वैषम्यं विप्रपत्तिश्च स चक्षुर्विजयी भवेत्॥ ४३॥
निन्दायां स्तवने यस्य माध्यस्थ्यं नैव हीयते।
श्रवणाक्षजयी स स्यात् साधुदीक्षाधरो नरः॥ ४४॥
यथा खलीनतो हीना हयाः कापथगामिनः।
तथा संयमतो हीना नराः कापथगामिनः॥ ४५॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञानको धारण करनेवाले मनुष्योंके द्वारा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँच इन्द्रियाँ कही जाती हैं। मुनिदीक्षाके लिये उद्यत मनुष्योंको इन्द्रियोंको जय करना चाहिये। क्योंकि

जो इन्द्रियोंके दास हैं उनकी दीक्षा कहाँ विराजती है, अर्थात् कहीं नहीं। स्त्रीके कोमल शरीरमें और रूक्ष पाषाण खण्डमें जिसके राग, द्वेष नहीं है वह स्पर्शनेन्द्रिय जयी कहलाता है। इष्ट और अनिष्ट रस वाले भोजनमें जिसको मध्यस्थता विद्यमान रहती है उसका रसनेन्द्रिय विजय पृथिवीपर साधुओंके द्वारा प्रशंसित होता है। सुगन्ध और दुर्गन्धमें जो मध्यस्थताको नहीं छोड़ता है वह कर्म-क्षयमें उद्यत घ्राणेन्द्रियजयी होता है। मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपमें जिसके विषमता और विरोध नहीं है वह चक्षुरिन्द्रिय विजयी होता है। निन्दा और स्तुतिमें जिसकी मध्यस्थता नहीं छूटती वह मुनि-दीक्षामें तत्पर रहने वाला मनुष्य कर्णेन्द्रियजयी होता है। जिस प्रकार लगामसे रहित घोड़े कुमार्गगामी होते हैं उसी प्रकार संयमसे रहित मनुष्य कुमार्गगामी होते हैं॥ ३८-४५॥

आगे छह आवश्यकोंका कथन करते हैं—

साधुनानुदिनं कार्यं षडावश्यकपालनम्।
समता वन्दना चापि स्तुतिस्तीर्थंकृतां सदा॥ ४६॥
प्रतिक्रमणं च प्रत्याख्यानं व्युत्सर्ग एव च।
इत्येते षड् सुविज्ञेयाः प्रोक्ता आवश्यका जिनैः॥ ४७॥
इष्टानिष्टपदार्थेषु रागद्वेषविवर्जनम्।
समता शस्यते सद्भिरात्मशुद्धिविधायिनी॥ ४८॥
चतुर्विंशतितीर्थेशामेकस्य स्तवनं मुदा।
क्रियते साधुना यत्तद् वन्दना नाम कथ्यते॥ ४९॥
सर्वतीर्थंकृतां भक्त्या स्तवनं यद् विधीयते।
स्तुतिरावश्यकं ज्ञेयं मुनीनां मोददायनम्॥ ५०॥
भूतकालिकदोषाणां प्रायश्चित्त विधायिनी।
क्रिया या साधुसङ्घस्य सा प्रतिक्रमणं मतम्॥ ५१॥
भाविकाले विधास्यामि जातुचिन्नैव पातकम्।
इत्येवं यत्प्रतिज्ञानं प्रत्याख्यानं तदुच्यते॥ ५२॥
अन्तर्बाह्योपधित्यागे कायमोहविवर्जनम्।
ध्यायं ध्यायं महामन्त्रं व्युत्सर्गः सोऽभिधीयते॥ ५३॥

अर्थ—साधुको प्रतिदिन छह आवश्यकोंका पालन करना चाहिये समता, वन्दना, तीर्थंकरोंकी स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग ये छह आवश्यक जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे गये हैं, अतः

जानने योग्य है। इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंमें राग-द्वेषका त्याग करना, सत्पुरुषोंके द्वारा समता कही गई है। यह समता आत्म-शुद्धिको देने वाली है। चौबीस तीर्थंकरोंमेंसे किसी एक तीर्थंकरका हर्षपूर्वक जो स्तवन किया जाता है वह वन्दना कहलाती है और सभी तीर्थंकरोंका भक्तिसे जो स्तवन किया जाता है वह स्तुति नामक आवश्यक कहलाता है। यह आवश्यक मुनियोंको आनन्द देनेवाला है। भूतकालीन दोषोंका प्रायश्चित दिलाने वाली साधु समूहकी जो क्रिया है वह प्रतिक्रमण मानी गई है। भावी कालमें कभी भी ऐसा पाप नहीं करूंगा इस प्रकारका जो नियम है वह प्रत्याख्यान कहलाता है। अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रहका त्यागकर महामन्त्रका ध्यान करते हुए जो शरीरसे मोह छोड़ा जाता है वह व्युत्सर्ग नामका आवश्यक कहलाता है ॥ ४६-५३ ॥

आगे शेष सात गुणोंका वर्णन करते हैं—

लोचाचेलक्यमस्नानं भूशय्याऽदन्तधावनम् ।
स्थितिभुक्त्येकभुक्ती च सप्तैते शेष सद्गुणाः ॥ ५४ ॥
मासद्वयेन मासैस्तु त्रिभिर्मासचतुष्टयात् ।
शिरःस्थान्श्मश्रुकूर्चस्थान्कचान् लुञ्चेत् प्रमोदतः ॥ ५५ ॥
लुञ्चस्य दिवसे कार्य उपवासो नियोगतः ।
एकान्ते लुञ्चनं श्रेष्ठमहंभावनिवारणात् ॥ ५६ ॥
ब्रह्मचर्यस्य शुद्ध्यर्थमाचेलक्यं मुदा वहेत् ।
नैर्ग्रन्थ्ये विद्यमानेऽपि नाग्न्यं मूलगुणो मतः ॥ ५७ ॥
चेलखण्डपरित्यागाद् ब्रह्मचर्यं परीक्ष्यते ।
वस्त्रान्तर्विकृतिर्द्रष्टुं नैव शक्या शरीरिभिः ॥ ५८ ॥
जीवहिंसानिवृत्यर्थं वैराग्यस्य च वृद्धये ।
स्नानत्यागो विधातव्यः साधुभिः शिवसाधकैः ॥ ५९ ॥
विष्टरादिपरित्यागे भूशय्या शरणं मतम् ।
कटः पलालपुञ्जो वा कदाचिद् ग्राह्य उच्यते ॥ ६० ॥
रजन्याः पश्चिमे भागे श्रमस्य परिहाणये ।
शेरते मुनयः किञ्चिद् भूपृष्ठे जातु कर्कशे ॥ ६१ ॥
कुन्दपुष्पाभदन्तालीं दृष्ट्वा रागः प्रजायते ।
तद्रागस्य विनाशायादन्तधावनमुच्यते ॥ ६२ ॥

वासरे ह्येकवारं यो स्थित्वा पाणिपात्रयोः।
भुङ्क्ते साधुरनासक्त्या तत्स्थितिभोजनं मतम् ॥ ६३ ॥
एकस्मिन् दिवसे भुक्तिवेले द्वे विनिरूपिते।
गृहिणां साधुसङ्घस्तु सम्भुङ्क्ते ह्येकवारकम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—केशलोंच करना, नग्न रहना, स्नान नहीं करना, पृथिवीपर सोना, दातौन नहीं करना, खड़े-खड़े आहार करना और एक बार आहार लेना, ये मुनियोंके शेष सात गुण माने गये हैं। दो माह, तीन माह अथवा चार माहमें शिर तथा डांढ़ी मूछके केशोंका हर्षपूर्वक लोंच करना चाहिये। लोंचके दिन नियमसे उपवास करना चाहिये। एकान्तमें केशलोंच करना श्रेष्ठ है क्योंकि उसमें अहंभाव-अहंकार नहीं होता। ब्रह्मचर्यको शुद्धिके लिये हर्षपूर्वक नाग्न्यव्रत धारण करना चाहिये। निर्ग्रन्थ—निष्परिग्रह दशाके रहते हुए भी नाग्न्य व्रतको मूल-गुण माना गया है। क्योंकि वस्त्रखण्डका परित्याग होनेसे ही ब्रह्म-चर्यको परोक्षा होती है। वस्त्रके भीतर होनेवाला विकार प्राणियोंके द्वारा देखा नहीं जा सकता। जीव हिंसाकी निवृत्ति तथा वैराग्यकी वृद्धिके लिये मोक्षकी साधना करनेवाले साधुओंको स्नानका त्याग करना चाहिये। बिस्तर आदिका त्याग हो जानेपर साधुओंकी भूशय्या ही शरण मानी गई है। कभी चटाई और पुआल आदि भी ग्राह्य-ग्रहण करने योग्य माने गये हैं। थकावटको दूर करनेके लिये मुनि रात्रिके पश्चिमार्ध भागमें कर्कश पृथ्वी-पृष्ठपर कभी कुछ शयन करते हैं। कुन्दके फूल समान आभावाली दन्तपंक्तिको देख कर राग उत्पन्न होता है। उसका नाश करनेके लिये अदन्तधावन गुण कहा जाता है। मुनि दिनमें एक बार खड़े होकर पाणिपात्र-हाथ रूपी पात्रमें अनासक्त भावसे जो आहार करते हैं वह स्थिति-भोजन नामका गुण है। गृहस्थोंके लिये दिनमें भोजन करनेके लिये दो बेला कही गई है परन्तु साधु-समूह एक बार ही भोजन करते हैं उनका यह एक भुक्त-मूलगुण कहलाता है ॥ ५४-६४ ॥

इस प्रकार गुरुके मुखसे मूलगुणोंका वर्णन सुन दीक्षाके लिए उद्यत मनुष्य क्या करता है, यह कहते हैं—

इत्थं मूलगुणान् श्रुत्वा गुरुवदनवारिजात्।
ओमित्युक्त्वा मुदा जातो रोमाञ्चित कलेवरः ॥ ६५ ॥

लुञ्चित्वा पाणियुग्मेन कचान् शिरसि संस्थितान् ।
मुक्त्वा वस्त्रावृतिं सद्यः सञ्जातोऽसौ दिगम्बरः ॥ ६६ ॥
गुरुणा कृत संस्कारो धृतपिच्छकमण्डलुः ।
शुशुभे क्षीणसंसारः साधुसङ्घाभिनन्दितः ॥ ६७ ॥
करणानां विशुद्धिर्या दर्शिता परमागमे ।
तां सम्प्राप्य परिप्राप्तोऽप्रमत्तविरतस्थितिम् ॥ ६८ ॥
अन्तर्मुहूर्तमध्येऽसौ प्रमत्तविरतोऽभवत् ।
कृत्वारोहावरोहौ स षष्ठसप्तमयोश्चिरम् ॥ ६९ ॥
धृत सामायिकच्छेदोपस्थापनसंयमः ।
विजहार महीपृष्ठे गुरुसङ्घसमन्वितः ॥ ७० ॥
अष्टाङ्गसम्यक्त्वविभूषितो यो, यो ज्ञानशाखोल्लसितः समन्तात् ।
चारित्रसौगन्ध्यसमन्वितो यः स मोक्षमार्गो मम मोक्षदः स्यात् ॥ ७१ ॥

अर्थ—इस प्रकार गुरुदेवके मुख कमलसे मूलगुणोंको सुनकर जिसका शरीर रोमाञ्चित हो रहा था ऐसे उस भव्यने 'ओम्' स्वीकार है, ऐसा कह दोनों हाथोंसे सिरके केशोंका लोंच किया तथा वस्त्रका आवरण दूरकर वह शीघ्र ही दिगम्बर हो गया। गुरुने जिसका संस्कार किया था जो पीछी और कमण्डलुको धारण कर रहा था, जिसका संसार अल्प रह गया था तथा उपस्थित साधु समूहने जिसका अभिनन्दन किया था ऐसा वह नवीन दीक्षित, अतिशय सुशोभित हो रहा था। परमागममें करणों—अधःप्रवृत्त तथा अपूर्वकरण आदि परिणामोंकी जो विशुद्धि दिखलाई गई है उसे प्राप्तकर वह अप्रमत्त-विरत नामक सप्तम गुणस्थानको प्राप्त हो गया। पश्चात् अन्तमुहूर्तके भीतर प्रमत्तविरत हो गया। इस तरह वह छटवें और सातवें गुणस्थान-में आरोह-अवरोह—चढ़ना उतरना करता हुआ सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्रसे युक्त हो गया। पश्चात् गुरु-आचार्य तथा सङ्घ-सङ्घस्थ मुनियोंके साथ उसने पृथिवीपर विहार किया।

ग्रन्थकर्ता कहते हैं कि जो अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शनसे सुशोभित है, ज्ञानकी शाखाओंसे उल्लसित-अतिशय शोभायमान है और चारित्ररूपी सुगन्धिसे सहित है ऐसा मोक्षमार्ग मुझे मोक्षका देनेवाला हो ॥ ६५-७१॥

इस प्रकार सम्यक्चारित्रचिन्तामणि ग्रन्थमें सामान्य
रूपसे मूलगुणोंका वर्णन करनेवाला
प्रथम प्रकाश पूर्ण हुआ।

द्वितीय प्रकाश

चारित्रलब्धिअधिकार

मङ्गलाचरण

यैरिन्द्रियाणि स्ववशीकृतानि
चित्तस्य चाञ्चल्य मनोरितञ्च ।
तान् संयतान् स्वात्मविशुद्धियुक्तान्,
वन्दे सदाहं शिवसौख्यसिद्ध्यै ॥ १ ॥

अर्थ—जिन्होंने इन्द्रियोंको अपने अधीन किया है तथा चित्तको चञ्चलताको रोका है, स्वात्मविशुद्धिसे युक्त उन संयतों—ऋषि, मुनि, यति और अनगार भेदसे युक्त चतुर्विध साधुओंको मैं मोक्षसुखकी प्राप्तिके लिये सदा नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

आगे चारित्रको कौन व्यक्ति प्राप्त करता है, यह लिखते हैं—

चारित्रं लभते कोऽत्र क्वत्यः कीदृक् च मानवः ।
कीदृक् तस्यात्मभावः स्यादिति चिन्ता विधीयते ॥ २ ॥
मनुजः कर्मभूम्युत्थोऽकर्मभूमिज एव च ।
ज्ञानोपयोगसंयुक्तः सल्लेश्याभिः समन्वितः ॥ ३ ॥
पर्याप्तो जागृतो योग्यद्रव्यक्षेत्रादिशुम्भितः ।
लभते चारित्रलब्धिं कर्मक्षयविधायिनीम् ॥ ४ ॥
प्रथमाद्वा चतुर्थाद्वा पञ्चमाद्वा गुणादयम् ।
प्राप्नोति संयमं शुद्धिं वर्धमानां समाश्रितः ॥ ५ ॥

अर्थ—इस पृथिवीपर कहाँ उत्पन्न हुआ कैसा मनुष्य चारित्रको प्राप्त होता है और उसका आत्मभाव कैसा होता है ? इसका विचार किया जाता है। जो कर्मभूमि अथवा अकर्मभूमिमें उत्पन्न हुआ है, ज्ञानोपयोगसे संयुक्त है, शुभलेश्याओंसे सहित है, पर्याप्त है, जागृत है तथा योग्य द्रव्य क्षेत्र आदिसे सुशोभित है ऐसा मनुष्य कर्मक्षय करने वाली चारित्रलब्धिको प्राप्त होता है। बढ़ती हुई विशुद्धिको प्राप्त हुआ यह मनुष्य प्रथम, चतुर्थ अथवा पञ्चम गुणस्थानसे संयम–महाव्रतको प्राप्त होता है। अर्थात् इन गुणस्थानोंसे संयमको प्राप्त होने वाला मनुष्य पहले सप्तम गुणस्थानको प्राप्त होता है, पश्चात् षष्ठ गुणस्थानमें आता है ॥ २-५ ॥

आगे संयमलब्धिको प्राप्त करनेवाला कौन जीव कितने करण करता है और उन करणोंमें क्या कार्य करता है यह कहते हैं—

आद्योपशमसम्यक्त्वाल्लभते यदि संयमम्।
अधःप्रवृत्तप्रभृति कुरुते करणत्रयम् ॥ ६ ॥
यदि वेदकसम्यक्त्वी वेदकप्रायोग्यवान्वा।
लभते संयमस्थानमनिवृत्तिं विहाय तत् ॥ ७ ॥
विशुद्ध्या वर्धमानोऽयं कुरुते करणद्वयम्।
यदि क्षायिकसम्यक्त्वी लभते संयमं शुभम् ॥ ८ ॥
वर्धमानविशुद्ध्याढ्यः कुरुते करणद्वयम्।
स्थितिकाण्डकघातोऽनुभागकाण्डकसंक्षतिः ॥ ९ ॥
बन्धापसरणादीनि गुणश्रेणी च संक्रमः।
जायन्तेऽपूर्वकरणे नियमात्साधु सन्ततेः ॥ १० ॥
आर्यखण्डसमुत्पन्नः कर्मभूमिज उच्यते।
म्लेच्छखण्डोद्भवो मर्त्योऽकर्मभूमिज इष्यते ॥ ११ ॥
आर्यखण्डे समायान्ति ये सार्धं चक्रवर्तिना।
तेषु केचिद् धरन्तीह मुनिदीक्षां सनातनीम् ॥ १२ ॥

अर्थ—यदि प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि मनुष्य संयमको प्राप्त होता है तो वह अधःप्रवृत्त आदि तीनों करण करता है। यदि वेदक सम्यग्दृष्टि या वेदक प्रायोग्यवान्—वेदककालमें स्थित मिथ्यादृष्टि संयमस्थानको प्राप्त होता है तो वह विशुद्धिसे बढ़ता हुआ अनिवृत्तिकरण को छोड़कर शेष दो करण करता है। स्थितिकाण्डक घात, अनुभाग काण्डक घात, बन्धापसरणादिक, गुणश्रेणी निर्जरा तथा अशुभ कर्मोंका शुभ कर्मरूप संक्रमण, ये सब कार्य मुनिसमूहके नियमसे अपूर्वकरण नामक करणमें होते हैं। आर्यखण्डमें उत्पन्न हुआ मनुष्य कर्मभूमिज कहा जाता है और म्लेच्छ खण्डोंमें उत्पन्न हुआ अकर्मभूमिज माना जाता है। दिग्विजय कालमें म्लेच्छ खण्डके जो मनुष्य चक्रवर्तीके साथ आर्य-खण्डमें आते हैं उनमेंसे कोई मनुष्य यहां श्रेष्ठ मुनिदीक्षा धारण करते हैं ॥ ६-१२ ॥

आगे सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्रका स्वरूप कहते हैं—

सर्वसावद्यसंयोगं त्यक्त्वा केचिन्मुनीश्वराः।
भवन्ति समताधारा धृतसामायिका भुवि ॥ १३ ॥

सामायिकाच्च्युतो सत्यां पुनस्तत्रैव संस्थिताः ।
छेदोपस्थापनायुक्ता भवन्तीह मुनीश्वराः ॥ १४ ॥
एतौ सुसंयमौ नूनमाषष्ठान्नवमावधिम् ।
भवतो मुनिराजानां जिनदेवनिरूपितौ ॥ १५ ॥

अर्थ—इस भूतलपर कितने ही मुनिराज सर्वसावद्य संयोग-समस्त पाप कार्योंका त्यागकर समता-साम्यभावके आधार होते हुए सामायिक चारित्रके धारक होते हैं और जो सामायिक चारित्रसे च्युत होने पर पुनः उसीमें स्थित होते हैं वे छेदोपस्थापना चारित्रके धारक कहलाते हैं। जिनेन्द्रदेवके द्वारा निरूपित ये दोनों उत्तम संयम मुनिराजों के छठवें गुणस्थानसे लेकर नौवें गुणस्थान तक होते हैं ॥ १३-१५ ॥

आगे परिहारविशुद्धि संयमका वर्णन करते हैं—

त्रिंशद्वर्षाणि यो धाम्नि सुखेन स्थितवान् सदा ।
पश्चाद् विरज्य भोगेभ्यस्तीर्थंकृत्पादमूलयोः ॥ १६ ॥
दीक्षित्वा ह्यष्टवर्षाणि प्रत्याख्यानाभिधानकम् ।
अधीत्य पूर्वं यः प्राप्तः परिहारर्द्धिं दुर्लभाम् ॥ १७ ॥
गव्यूतिप्रमितं नित्यं विहरन् नियमेन च ।
जीवराशौ गमिं कुर्वन् न च लिम्पति पापतः ॥ १८ ॥
परिहारविशुद्धचाख्यः संयमी स हि कथ्यते ।
षष्ठसप्तमयोर्धाम्नोरेव स्यात्परिशंसितः ॥ १९ ॥
आद्योपशमसद्दृष्टिर्मनःपर्ययबोधवान् ।
आहारकर्द्धिसंयुक्तो नैतं संलभते क्वचित् ॥ २० ॥

अर्थ—जो तीस वर्ष तक सदा सुखसे घरमें रहा है, पश्चात् भोगोंसे विरक्त हो तीर्थङ्करके पादमूलमें दीक्षित हो आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान पूर्वका अध्ययन कर दुर्लभ परिहार विशुद्धि ऋद्धिको प्राप्त हुआ है, जो नियमसे प्रतिदिन दो कोश विहार करता है तथा जीवराशिपर गमन करता हुआ भी पापसे लिप्त नहीं होता अर्थात् ऋद्धिके प्रभावसे जिसके द्वारा जीवोंका घात नहीं होता वह परिहार विशुद्धि संयमका धारक कहलाता है। यह परिहार विशुद्धि संयम छठवें और सातवें गुणस्थानमें होता है। प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि, मनःपर्यय ज्ञानी और आहारकऋद्धिसे युक्त मुनि कहीं भी इस संयमको प्राप्त नहीं होते हैं ॥ १६-२०॥

आगे सूक्ष्मसाम्पराय संयमका वर्णन करते हैं—

क्षपकश्रेणिमारूढः क्षपणाविधिमाश्रितः।
क्रमशः क्षपयन् वृत्त-मोहं दशममाश्रयेत् ॥ २१ ॥
आरुह्योपशमश्रेणीं कश्चित्कर्ममहीपतिम्।
शमयन् वृत्तमोहाख्यं दशमं गुणमाश्रयेत् ॥ २२ ॥
दशमं धामसम्प्राप्तः सूक्ष्मसंज्वलनो भवेत्।
श्रेणीयुग्मं समारोढुं शक्तः क्षायिकदृग्भवेत् ॥ २३ ॥
अन्यस्तूपशमश्रेणीमेवारोढुं समर्थकः।
आद्योपशमयुक्तो वा वेदकेन युतोऽपि वा ॥ २४ ॥
कामपि श्रेणिमारोढुं नैव शक्नोति जातुचित्।
एतद्वृत्तं नियोगेन केवले दशमे भवेत् ॥ २५ ॥

अर्थ—क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ तथा क्षपणाविधिको प्राप्त हुए मुनि क्रमसे चारित्र मोहका क्षय करते हुए दशम गुणस्थानको प्राप्त होते हैं और कोई मुनि उपशम श्रेणीपर आरूढ़ होकर चारित्रमोह नामक कर्मों के राजाका क्रमसे उपशम करते हुए दशम गुणस्थानको प्राप्त होते हैं। दशम गुणस्थानको प्राप्त हुए मुनि सूक्ष्मसंज्वलन-सूक्ष्मसाम्पराय संयमके धारक होते हैं। इस संयम वालेके मात्र संज्वलन लोभका सूक्ष्म उदय शेष रहता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य दोनों श्रेणियों-पर आरूढ़ होनेमें समर्थ रहता है परन्तु दूसरा-द्वितीयोपशम सम्य-ग्दृष्टि मनुष्य केवल उपशम श्रेणीपर ही चढ़नेमें समर्थ होता है। प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य किसी भी श्रेणीपर चढ़नेमें कभी समर्थ नहीं होता। यह सूक्ष्मसाम्पराय संयम नियमसे मात्र दशम गुणस्थानमें होता है ॥ २१-२५ ॥

आगे यथाख्यातचारित्रका वर्णन करते हैं—

इतोऽग्रे स्याद् यथाख्यातं चारित्रं शिवसाधनम्।
मोक्षे किमपि चारित्रं नास्तीति समये स्थितम् ॥ २६ ॥
आत्मनो वीतरागत्वं स्वरूपं यादृशं मतम्।
तादृशं यत्र जायेत तद् यथाख्यातमुच्यते ॥ २७ ॥
क्षीणे वा ह्युपशान्ते वा मोहनीयाख्यकर्मणि।
चारित्रं च यथाख्यातं प्रकटीभवति ध्रुवम् ॥ २८ ॥

अर्थ—सूक्ष्मसाम्पराय संयमके आगे—दशम गुणस्थानके आगे मोक्षका साधन स्वरूप यथाख्यात चारित्र होता है। मोक्षमें कोई भी

चारित्र नहीं होता है—ऐसा आगममें उल्लेख है। आत्माका वीतरागता रूप जैसा स्वरूप माना गया है वैसा जिसमें प्रकट हो जाता है वह यथाख्यात चारित्र कहलाता है। मोहनीय कर्मका क्षय अथवा उपशम हो जानेपर नियमसे यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है।

भावार्थ—औपशमिक और क्षायिकके भेदसे यथाख्यात चारित्र दो प्रकारका है। उनमेंसे औपशमिक यथाख्यात संयम उपशान्त मोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानमें होता है और क्षायिक यथाख्यात क्षीणमोह बारहवें गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तक होता है ॥ २६-२८ ॥

आगे संयमसे पतित होकर पुनः संयमको प्राप्त होनेवाले मुनियोंके करणों का वर्णन करते हैं—

संयमात्पतितो मर्त्यस्तीव्रसंक्लेशतो विना।
पुनश्चेत्संयमं गच्छेत् नाऽपूर्वकरणं श्रयेत् ॥ २९ ॥
यश्च संक्लेश बाहुल्यात्पतित्वाऽसंयमं गतः।
भूयश्चेत्संयमं प्राप्तः स कुर्यात् करणद्वयम् ॥ ३० ॥

अर्थ—जो मनुष्य तीव्र संक्लेशके बिना संयमसे पतित हो पुनः संयमको प्राप्त होता है वह अपूर्वकरण नामक करणको नहीं करता है और जो संक्लेशकी बहुलतासे पतित हो असंयमको प्राप्त हुआ है वह यदि पुनः संयमको प्राप्त होता है तो करणद्वय– अधःप्रवृत्त और अपूर्वकरण नामक दो करणोंको प्राप्त होता ह।

भावार्थ—संयमको प्राप्त हुआ मनुष्य बहुत संक्लेशको प्राप्त हुए बिना परिणामवश कर्मोंको स्थितिमें वृद्धि किये बिना यदि असंयमपनेको प्राप्त होकर पुन संयमको प्राप्त होता है तो न उसके अपूर्वकरण परिणाम हो होते हैं और न स्थितिकाण्डक घात तथा अनुभाग काण्डक घात। किन्तु जो संक्लेशकी अधिकताके कारण मिथ्यात्वको प्राप्त होनेके साथ असंयमको प्राप्त होकर अन्तर्मुहूर्त बाद या दीर्घकाल बाद संयमको प्राप्त होता है तो उसके अधःप्रवृत्त और अपूर्वकरण नामक दोनों करण होते हैं तथा यथाख्यात स्थितिकाण्डक घात और अनुभागकाण्डक घात भी होते हैं ॥ २९-३० ॥

आगे संयमको प्राप्त हुए मनुष्योंकी प्रतिपात, प्रतिपद्यमान और अप्रतिपात अप्रतिपद्यमानके भेदसे तीन स्थानोंका वर्णन करते हैं—

प्राप्तसंयममर्त्यानां प्रतिपातादिभेदतः।
त्रिप्रकाराणि धामानि वर्णितानि जिनागमे ॥ ३१ ॥

संक्लेशस्य हि बाहुल्यात् पतन्तो मानवा यदि।
अधःस्थाने समायान्ति हीयमान विशुद्धितः॥ ३२॥
पञ्चमं वा तुरीयं वा प्रथमं वा समागताः।
प्रतिपाताभिधानेन कथ्यते तन्महर्षिभिः॥ ३३॥
संयमं प्रतिपद्यन्ते यत्र धामनि संस्थिताः।
प्रतिपद्यमानं प्रोक्तं तद् धामपरमागमे॥ ३४॥
एतद्द्वयातिरिक्तानि वृत्तस्थानानि यान्यपि।
लब्धिस्थानाभिधानानि कथ्यन्ते तानि सूरिभिः॥ ३५॥

अर्थ—संयम प्राप्त करने वाले मनुष्योंके प्रतिपात आदि-प्रतिपात प्रतिपद्यमान और अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमानकी अपेक्षा जिनागममें तीन प्रकारके स्थान कहे गये हैं। संक्लेशकी बहुलतासे घटती हुई विशुद्धिसे नीचे पड़ते हुए मनुष्य यदि नीचे आते हैं तो पञ्चम चतुर्थ अथवा प्रथम गुणस्थानमें आते हैं। उनके ये स्थान महर्षियोंके द्वारा प्रतिपातस्थान कहे जाते हैं और जिस गुणस्थानसे मनुष्य संयमको प्राप्त होते हैं वे प्रतिपद्यमान कहलाते हैं तथा इन दोनोंसे अतिरिक्त जो संयमके स्थान हैं वे आचार्यों द्वारा लब्धिस्थान कहे जाते हैं।

भावार्थ—संयमको प्राप्त हुए जीवोंके संयमस्थान तीन प्रकार के हैं—१. प्रतिपात स्थान, २. प्रतिपद्यमान स्थान और ३. अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमान स्थान। संयममें स्थित जीव संक्लेशकी बहुलतासे गिरकर जिन संयमासंयम, अविरतसम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि अवस्थाको प्राप्त होते हैं वे प्रतिपातस्थान कहलाते हैं और जिनमें स्थितजीव विशुद्धताकी वृद्धिसे संयमको प्राप्त होता है उन्हें प्रतिपद्यमानस्थान कहते है। तात्पर्य यह है कि विशुद्धताकी हानिसे जहां गिरकर आता है वे प्रतिपात स्थान हैं और विशुद्धताकी वृद्धिसे जीव जिस स्थानसे संयमको प्राप्त होता है वे प्रतिपद्यमान स्थान हैं। प्रतिपात स्थान संयमसे गिरते समय होता है और प्रतिपद्यमान स्थान संयम प्राप्त होनेके प्रथम समयमें होता है। इन दोनोंके अतिरिक्त अन्य जितने चारित्रके स्थान हैं वे सब लब्धिस्थान कहलाते हैं॥ ३१-३५॥

आगे मोहनीय कर्मकी उपशमनाका वर्णन करते हैं—

अथोपशमनाकार्यं मोहनीयस्य कर्मणः।
यथागमं प्रवक्ष्यामि संक्षेपेण यथामति॥ ३६॥

वेदकदृष्टिसंयुक्तः कश्चिद् भव्यतमो नरः।
अनन्तानुबन्धिक्रोधमानादीनां चतुष्टयम् ॥ ३७ ॥
मिथ्यात्वादित्रिकं चेति प्रकृतीनां हि सप्तकम्।
तुर्यादिसप्तमान्तेषु गुणस्थानेषु कुत्रचित् ॥ ३८ ॥
शमयित्वा भवेज्जातूपशमश्रेणिसम्मुखः।
प्रागधःकरणं कुर्वन् भवेत् सातिशयो मुनिः ॥ ३९ ॥
एतस्मिन् हि गुणस्थाने विशुद्धिं परमां दधत्।
अपूर्वकरणं धाम लभते शुद्धिसंयुतः ॥ ४० ॥

अर्थ—अब मोहनीय कर्मकी उपशमनाका कार्य आगम और अपनी बुद्धिके अनुसार संक्षेपमें कहता हूं। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनसे सहित कोई भव्य पुरुष अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार, तथा मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन तीन, इस प्रकार सात प्रकृतियोंका चतुर्थसे लेकर सप्तम गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थानमें उपशम (विसंयोजना—अन्य प्रकृतिरूप परिणमन) कर द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि होकर कभी उपशमश्रेणीके सन्मुख हो अधःकरणरूप परिणामको करते हुए सातिशय अप्रमत्तविरत होते हैं। इस गुणस्थानमें परम विशुद्धिको धारण करते हुए अपूर्वकरण गुणस्थानको प्राप्त होते हैं तथा वहां पूर्वकी अपेक्षा सातिशय शुद्धिसे युक्त होते हैं।

भावार्थ—पहले बताया गया है कि प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव श्रेणी मांडनेकी योग्यता नहीं रखते। जब कोई क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि मुनि उपशमश्रेणी मांडनेके सम्मुख होते हैं तब वे अनन्तानुबन्धी चतुष्क और मिथ्यात्वादि त्रिकका उपशम करते हैं। यहां अनन्तानुबन्धीके उपशमका अर्थ है अपने स्वरूपको छोड़कर अन्य प्रकृतिरूप रहना। इसे अन्यत्र विसंयोजन कहा है और उदयमें नहीं आना यह दर्शन-मोहनीय त्रिक-मिथ्यात्वादिक त्रिकके उपशमका अर्थ है। द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति लब्धिसारादि अन्य ग्रन्थोंमें अप्रमत्तविरत नामक सप्तम गुणस्थानमें बतलाई है परन्तु धवला पु० १ (पृष्ठ २१०) में असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तविरत नामक सप्तम गुणस्थान तक चार गुणस्थानोंमें रहनेवाला कोई भी जीव कर सकता है, यह बताया है। लब्धिसारादि ग्रन्थोंमें अनन्तानुबन्धी चतुष्कके उपशमको विसंयोजन नामसे कहा है

और यहाँ उपशम नामसे कहा है। यह शब्द भेद ही समझना चाहिये। उपशमश्रेणीके सम्मुख हुए मुनि सप्तम गुणस्थानका दूसरा भेद जो सातिशय अप्रमत्तविरत है उसे प्राप्त होते हैं तथा अधःकरणरूप परिणाम करते हैं। इस गुणस्थानमें जो विशुद्धि होती है उससे स्थितिकाण्डक घात आदि कार्य नहीं होते। पश्चात् विशुद्धिको बढ़ाते हुए अपूर्वकरण—अष्टम गुणस्थानको प्राप्त होते हैं। इस गुणस्थानको विशुद्धिसे स्थितिकाण्डक घात, अनुभागकाण्डक घात, गुणश्रेणी निर्जरा और अप्रशस्त प्रकृतियोंका शुभ प्रकृतिरूप संक्रमण होता है ॥ ३६-४० ॥

आगे अपूर्वकरण गुणस्थानमें होनेवाले कार्यका वर्णन करते हैं—

एतस्मिंस्तु गुणस्थाने विशुद्धया वर्धतेतराम्।
एकैकान्तर्मुहूर्ते च संख्यातस्य सहस्रकम् ॥ ४१ ॥
कुरुते स्थितिकाण्डानां संघातं तावदेव च।
बन्धापसरणं कुरुते भावानां हि विशुद्धितः ॥ ४२ ॥
एकैकस्मिन् स्थितेर्घाते संख्यातस्य सहस्रकम्।
धत्तेऽनुभागसंघातं गुणसंक्रमणं तथा ॥ ४३ ॥
समये समयेऽसंख्यगुणितां निर्जरामपि।
कुर्वन्नन्तर्मुहूर्तान्तेऽनिवृत्तिकरणं व्रजेत् ॥ ४४ ॥

अर्थ—इस अपूर्वकरण गुणस्थानमें मुनि विशुद्धिके द्वारा अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त होते हैं अर्थात् इनकी विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। इस विशुद्धिसे मुनि संख्यातहजार स्थितिकाण्डकोंका घात करता है और भावोंकी विशुद्धिसे उतने ही संख्यातहजार बन्धापसरण करता है। एक-एक स्थितिकाण्डकके घातमें संख्यातहजार अनुभागकाण्डक घात करता है, गुणसंक्रमण करता है और समय-सययमें असंख्यात गुणित निर्जराको करता हुआ अन्तर्मुहूर्तके अन्तमें अनिवृत्तिकरण नामक नवम गुणस्थानको प्राप्त होता है।

भावार्थ—यद्यपि अपूर्वकरण गुणस्थानका काल अन्तर्मुहूर्त है तथापि उसके अन्दर असंख्यात लघु अन्तर्मुहूर्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि अन्तर्मुहूर्तसे असंख्यात भेद होते हैं ॥ ४१-४४ ॥

तिष्ठेदन्तर्मुहूर्तेन कुर्वाणः पूर्ववत् क्रियाम्।
पश्चादन्तर्मुहूर्तेन कुर्यादन्तरणक्रियाम् ॥ ४५ ॥

ततश्च क्लीववेदस्य कुर्यादुपशमं तथा।
अतीतेऽन्तर्मुहूर्ते च स्त्रीवेदं शमयत्यसौ ॥ ४६ ॥
ततश्च मर्त्यवेदस्य मुक्त्वा नवकबन्धनम्।
सत्तास्थं निखिलद्रव्यं सार्धं षट्नोकषायकैः ॥ ४७ ॥
पुंवेदस्य नवद्रव्यं बध्यमानं स्वदोषतः।
पश्चात् समये समये गुणश्रेणीविधानतः ॥ ४८ ॥
संज्वलनस्य रोषस्य नवबन्धं विमुच्य सः।
सत्तास्थं संचितद्रव्यं शमयत्येव भावतः ॥ ४९ ॥

पश्चादन्तर्मुहूर्तेन क्रोधं मध्यकषाययोः।
शमयति ततः पश्चात् सांज्वलनं नवबन्धनम् ॥ ५० ॥
ततोऽसंख्यगुणश्रेण्या वर्धमानविशुद्धितः।
सांज्वलनस्य मानस्य मुक्त्वा नवकबन्धनम् ॥ ५१ ।
सत्तास्थं सकलद्रव्यं सार्धं मध्यकषाययोः।
मानस्य निखिलं द्रव्यं सत्तास्थं शमयत्यरम् ॥ ५२ ॥
ततोऽसंख्यगुणश्रेण्या वर्धमानो विशुद्धिभिः।
अन्तर्मुहूर्तमात्रेण मायां मध्यकषाययोः ॥ ५३ ॥

शमयित्वाल्पकालेन मानस्य नवबन्धनम्।
पश्चात् समये समयेऽसंख्यातगुणश्रेणितः ॥ ५४ ॥
मायाया नवकं मुक्त्वा सत्तास्थं शमयेत्पुनः।
अग्रेसरस्ततोभूत्वा मायां मध्यकषाययोः ॥ ५५ ॥
शमयेन्नवकं द्रव्यं मायायाश्च समाव्रजन्।
पश्चात् समये समये गुणश्रेणोविभागतः ॥ ५६ ॥
कुर्वन्नुपशमं नित्यं वर्धमानविशुद्धितः।
विदधत् सूक्ष्मकृष्टिं च भारहीन इवाभवत् ॥ ५७ ॥

सांज्वलनस्य लोभस्य मुक्त्वा नवकबन्धनम्।
सत्तास्थं सकलं द्रव्यं शमयत्येव पौरुषात् ॥ ५८ ॥
पश्चादन्तर्मुहूर्तेन लोभं मध्यकषाययोः।
शमयेद् विशुद्ध्या स्वस्या निवृत्तिकरणे स्थितः ॥ ५९ ॥
इत्थं मुक्त्वा नवद्रव्यमुच्छिष्टावलिकं तथा।
शेषस्य मोहनीयस्य सर्वथोपशमो भवेत् ॥ ६० ॥
सूक्ष्मकृष्टिगतं लोभं वेदयन् दशमस्थितः।
तस्याप्युपशमं कृत्वा शान्तमोहस्थितो भवेत् ॥ ६१ ॥

सर्वथा शान्तमोहोऽयमेकादशगुणस्थितः।
अधःस्थपङ्कसंयुक्तशरत्कासारवद् भवेत् ॥ ६२ ॥

अर्थ—यह मुनि अन्तर्मुहूर्त तक पूर्ववत् स्थितिकाण्डकघात आदि क्रियाओंको करते हुए नवम गुणस्थानमें स्थित रहते हैं। पश्चात एक अन्तर्मुहूर्तके द्वारा अन्तरकरण करते हैं अर्थात् अप्रत्याख्यानादि बारह कषाय और नौ नोकषायोंके नीच और ऊपरके निषेकोंको छोड़कर बीचके कितने ही निषेकोंके द्रव्यको निक्षेपण कर बोचके निषेकोंमें से मोहनोय कर्मका अभाव करते हैं। पश्चात् नपुंसकवेदका उपशम करते हैं, फिर अन्तर्मुहूर्त व्यतीत होनेपर स्त्रीवेदका उपशम करते हैं। तदनन्तर पुरुषवेदके नवकबन्धको छोड़कर सत्तामें स्थित उसके समस्त द्रव्यका छह नोकषायोंके साथ उपशम करते हैं। पश्चात् बढ़ती हुई विशुद्धिके द्वारा अल्पकालमें स्वदोष—रागांशके कारण बँधते हुए पुरुषवेदके नवकबन्धका उपशम करते हैं। पश्चात् समय-समय अर्थात् प्रत्येक समयमें गुणश्रेणी विधानसे संज्वलन क्रोधके नवक द्रव्यको छोड़कर सत्तामें स्थित संचित द्रव्यका भावोंको विशुद्धतासे उपशम करते हैं। पश्चात् अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा मध्यम कषाय-अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी क्रोधका उपशम करते हैं। पुनः संज्वलन क्रोधके नवकबन्धका उपशम करते हैं। तदनन्तर प्रति समय असंख्यात गुणश्रेणीरूपसे बढ़तो हुई विशुद्धिके द्वारा संज्वलन सम्बन्धी मानके नवकबन्धको छोड़कर सत्तामें स्थित सकल द्रव्यका उपशम करते हैं साथ हो मध्यम कषाय सम्बन्धी मानके सत्तामें स्थित सकल द्रव्यका शोघ्र ही उपशम करते हैं। पश्चात् असंख्यात गुणश्रेणी द्वारा विशुद्धिसे बढ़ते हुए मुनिराज अन्तर्मुहूर्त में मात्र काल-के द्वारा मध्यम कषाय सम्बन्धो मायाका उपशम कर संज्वलन मानके नवकबन्धका उपशम करते हैं। पश्चात् प्रत्येक समय असंख्यात गुणश्रेणीसे संज्वलन मायाके नवकबन्धको छोड़कर सत्तामें स्थित समस्त द्रव्यका उपशम करते हैं। पुनः आगे चलकर मध्यम कषाय सम्बन्धो माया और संज्वलन मायाका उपशम करते हैं। पुनः प्रत्येक समय असंख्यात गुणश्रेणीरूपसे बढ़तो हुई विशुद्धिसे उपशम करते हुए सूक्ष्मकृष्टि करते हैं और भारहोन जैसे हो जाते हैं। पश्चात् संज्वलन लोभके नवकबन्धको छोड़कर सत्तामें स्थित समस्त द्रव्यका अपने पौरुषसे उपशम करते हैं। तदनन्तर अन्तर्मुहूर्तमें मध्यम कषाय

सम्बन्धी लोभका विशुद्धि द्वारा उपशम करते हुए नवम गुणस्थानमें ही रहते हैं अर्थात् यह सब कार्य नवम गुणस्थानमें ही होते हैं। इस प्रकार नवक द्रव्य और उच्छिष्टावलीको छोड़कर शेष मोहनीयका सर्वथा उपशम हो जाता है। पश्चात् सूक्ष्मकृष्टिगत लोभका वेदन करते हुए दशम-सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानमें आते हैं और वहाँ उसका संज्वलन सम्बन्धी सूक्ष्म लोभका भी उपशम कर सब प्रकारसे उपशान्त होकर ग्यारहवें गुणस्थानमें पहुंचते हैं। इस गुणस्थानवर्ती मुनि, नीचे बैठी हुई कीचड़से युक्त शरद् ऋतुके सरोवरके समान होते हैं।

भावार्थ—इस गुणस्थानमें मोहनीयकर्मका उदय नहीं रहता, किन्तु सत्ता रहती है। उदय न रहनेसे परिणामोंमें निर्मलता रहती है परन्तु लघु अन्तर्मुहूर्तमें सत्ता स्थित संज्वलन लोभका उदय आनेसे मुनि गिरकर नीचे गुणस्थानमें आ जाते हैं। यदि मृत्युकाल नहीं है तो वे क्रमसे नीचे आते हैं और मृत्यु हो जानेपर विग्रहगतिमें एक साथ चतुर्थ गुणस्थानमें आ जाते हैं। क्रमशः छठवें गुणस्थान तक आनेके बाद कोई पुनः उपशमश्रेणीपर आरूढ़ हो जाते हैं। एक पर्यायमें दो बार उपशमश्रेणी मांडी जा सकती है और कोई मुनि छठवें-सातवें गुणस्थानमें क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त कर क्षपकश्रेणी मांड़ कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं पर ऐसे जीव अबद्धायुष्क होते हैं अर्थात् उन्होंने अभी तक परभवकी आयुका बन्ध नहीं किया था। दीर्घ संसार वाले कितने ही मुनि ग्यारहवें गुणस्थानसे पतन कर क्रमशः मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें भी आ जाते हैं और वहाँ एकेन्द्रिय आदिकी आयु बांधकर किञ्चिदूनअर्धपुद्गलपरावर्तनके लिये भटक जाते हैं। उपशमश्रेणी, एक भवमें अधिकसे अधिक दो बार और अनेक भवोंकी अपेक्षा चार बारसे अधिक नहीं मांड़ी जाती। क्षपकश्रेणी एक बार ही प्राप्त होती है और वह भी अबद्धायुष्क मुनिके लिए॥ ४५-६२॥

अब आगे मोहनीय कर्मकी क्षपणाविधि कहते हुए पहले क्षायिक सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका कथन करते हैं—

इतोऽग्रे सम्प्रवक्ष्यामि मोहस्य क्षपणाविधिम्।
यथाविधियथाशास्त्रं संक्षेपेण यथामति॥ ६३॥

वेदकदृशा समायुक्तः कश्चिदासन्नभव्यकः।
तुर्यादिसप्तमान्तेषु गुणस्थानेषु केषुचित्॥ ६४॥

केवलिद्विकपादानां सन्निधाने समागते।
त्रिकं दर्शनमोहस्य दृग्मोहचतुष्टयम् ॥ ६५ ॥
एतत्सप्तप्रकृतीनां क्षपणायां समुद्यतः।
प्रथमं कुरुते यावत्करणानां त्रिकं पुनः ॥ ६६ ॥
तत्रानिवृत्तिकालान्ते समं ह्यानचतुष्टयम्।
क्षपयित्वा पुनश्चायं कुरुते करणत्रयम् ॥ ६७ ॥
आद्यद्विकं समुल्लङ्घ्यानिवृत्तिकरणस्य च।
गते संख्यातभागे वै मिथ्यात्वं क्षपयत्यसौ ॥ ६८ ॥
पश्चादन्तर्मुहूर्तेन मिश्रं क्षपयति ध्रुवम्।
ततोऽप्रेऽन्तर्मुहूर्तेन सम्यक्त्वप्रकृतिक्षयम् ॥ ६९ ॥
कृत्वा क्षायिकसद्दृष्टिर्हन्तुं चारित्रमोहकम्।
क्षपकश्रेणिमारोढुमुद्यमं विदधाति वै ॥ ७० ॥

अर्थ—अब इसके आगे विधिपूर्वक शास्त्र और अपनी बुद्धिके अनुसार मोहनीय कर्मकी क्षपणा विधि कहूंगा। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनसे युक्त कोई निकट[1] भव्यजीव चतुर्थसे लेकर सप्तम तक किसी गुणस्थानमें केवलीद्विक, केवली और श्रुतकेवलीकी निकटता प्राप्त होनेपर दर्शनमोहकी तीन—मिथ्यात्वादिक और चरित्रमोहकी चार—अनन्तानुबन्धीचतुष्क, इन सात प्रकृतियोंका क्षय करनेके लिये उद्यत होता है। प्रथम ही वह तीन करण करता है। उनमें अनिवृत्तिकरणके अन्त कालमें अनन्तानुबन्धी चतुष्कका एक साथ क्षय अर्थात् विसंयोजन करता है—उसे अप्रत्याख्यानावरणादिरूप परिणमा देता है। पश्चात् पुनः तीन करण करता है। आदिके दो करण व्यतीत कर तृतीय करणका संख्यातवां भाग व्यतीत होनेपर वह मिथ्यात्व प्रकृतिका क्षय करता है अर्थात् उसे सम्यग्मिथ्यात्वरूप परिणत करता है। पश्चात् अन्तर्मुहूर्तमें सम्यग्मिथ्यात्वको सम्यक्त्व प्रकृतिरूप कर उसका क्षय करता है। इस तरह क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर चारित्रमोहका क्षय करनेके लिये वह क्षपकश्रेणिपर आरूढ़ होनेका प्रयत्न करता है ॥६३-७०॥

आगे चारित्रमोहको क्षपणाकी विधि कहते हैं—

सोऽयमन्तर्मुहूर्तेन व्यतीत्याधः प्रवृत्तकम्।
अपूर्वकरणं गत्वा विशुद्धया वर्धतेतराम् ॥ ७१ ॥

---

१. जिसके अधिकसे अधिक चार भव बाकी हैं वही जीव क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है, अधिक भव वाला नहीं।

एतस्मिन् हि गुणस्थाने समये समये पुनः ।
असंख्यगुणितश्रेणि-निर्जरां कुरुते सदा ॥ ७२ ॥
एकैकान्तर्मुहूर्तेन ह्येकैकस्थितिकाण्डकम् ।
हत्वा स्वकीयकालान्तः संख्यातस्य सहस्रकम् ॥ ७३ ॥
प्रघातं स्थितिकाण्डानां कुरुतेऽयं महामुनिः ।
बन्धापसरणं चापि कुरुते तावदेव हि ॥ ७४ ॥
ततोऽनुभागकाण्डानामसंख्यगुणितात्मनाम् ।
घातं करोति पश्चाच्च प्रविशत्यनिवृत्तिकम् ॥ ७५ ॥
तस्यापि संख्यभागेषु विधाय पूर्ववत् क्रियाम् ।
शिष्टेषु संख्यभागेषु स्त्यानगृद्ध्यादिसंज्ञिनाम् ॥ ७६ ॥
[1]षोडशकर्मभेदानां क्षपणां विदधात्यसौ ।
[2]पश्चादन्तर्मुहूर्तेन मध्यमाष्टकषायकम् ॥ ७७ ॥
युगपत् क्षपयेत् साधुः शुक्लध्यानप्रभावतः ।
यद्वा[3]
मध्यमाष्टकषायाणां क्षपणानन्तरं भवेत् ॥ ७८ ॥
षोडशप्रकृतीनां तु क्षपणाया अयं विधिः ।
एकैकान्तर्मुहूर्तेन क्लीबस्त्रीनरवेदकान् ॥ ७९ ॥
संज्वलनस्य क्रोधादीन् क्रमशः क्षपयेन्मुनिः ।
ततः संज्वलनं लोभं गृहीत्वा दशमं व्रजेत् ॥ ८० ॥
तत्र तस्यान्तिमे भागे तमपि क्षपयेद् यतिः ।
क्षणेन क्षीणमोहाख्यं गुणस्थानं व्रजत्यसौ ॥ ८१ ॥
कणोऽपि विद्यते यावन्मोहनीयस्य कर्मणः ।
तावद् भ्रमति जीवोऽयमाजवंजव कानने ॥ ८२ ॥
ततो मुमुक्षुभिर्मोहः क्षपणीयः प्रयत्नतः ।
मोहक्षये भवेन्मर्त्यो क्षणात् कैवल्यसंयुतः ॥ ८३ ॥

अर्थ—क्षपकश्रेणिपर आरूढ़ होनेवाले वे मुनिराज अन्तर्मुहूर्त द्वारा अधःप्रवृत्तकरण गुणस्थानको व्यतीत कर अपूर्वकरण गुणस्थानको प्राप्त

---

१. स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण इति नाम्नायु।
२. सत्कर्मप्राभृतापेक्षया ।
३. कषायप्राभृतकी अपेक्षा ।

होते हैं और वहाँ विशुद्धिसे अत्यन्त बढ़ते रहते हैं। वे मुनि इस गुणस्थानमें प्रति समय असंख्यात गुणश्रेणि निर्जरा करते हैं। एक एक अन्तर्मुहूर्तमें एक-एक स्थितिकाण्डकका घात कर अपने कालके भीतर संख्यात हजार स्थितिकाण्डक घात करते हैं तथा उतने ही बन्धापसरण करते हैं। पश्चात् असंख्यात गुणित अनुभागकाण्डकोंका घात करते हैं। इस सबके पश्चात् वे महामुनि अनिवृत्तिकरण नामक नवम गुणस्थानमें प्रवेश करते हैं। उसके भी संख्यातभागोंमें पूर्ववत्—अपूर्वकरणके समान क्रिया करते हैं। पश्चात् शेष संख्यात भागोंमें स्त्यानगृद्धि आदि सोलह कर्मप्रकृतियोंका क्षय करते हैं पश्चात् अन्तर्मुहूर्तमें शुक्लध्यान—पृथक्त्ववितर्कविचार नामक प्रथम शुक्लध्यानके आठ मध्यम कषायोंका युगपत् क्षय करते हैं। यह क्रम सत्कर्मप्राभृतके अनुसार है।

कषायप्राभृतके अनुसार क्रम यह है कि आठ मध्यम कषायोंको क्षपणाके पश्चात् स्त्यानगृद्धि आदि सोलह प्रकृतियोंका क्षय होता है। एक-एक अन्तर्मुहूर्तमें नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, पुंवेद तथा संज्वलन, क्रोध, मान और मायाका क्रमसे क्षय करते हैं। तदनन्तर संज्वलन लोभको लेकर दशमगुणस्थानको प्राप्त होते हैं और वहां उसके अन्तमें उस संज्वलन लोभका भी क्षय करते हैं। इस प्रकार वे मुनि क्षणभरमें क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानको प्राप्त होते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि जबतक मोहनीयकर्मकी एक कणिका भी विद्यमान रहती है तबतक यह जीव संसाररूपी वनमें भ्रमण करता रहता है। इसलिये मुमुक्षुजनोंको प्रयत्नपूर्वक मोहनीयकर्मका क्षय करना चाहिये। मोहका क्षय होनेसे यह मनुष्य क्षणभरमें अन्तर्मुहूर्तके भीतर केवलज्ञानसे सहित हो जाता है॥ ७१-८३॥

आगे प्रकरणका समारोप करते हैं—

ध्यायं ध्यायं जिनपतिपदं शुद्धसम्यक्त्वयुक्तः
श्रावं श्रावं जिनवरवचः प्राप्तसज्ज्ञानपुञ्जः।
श्रायं श्रायं सुगुरुचरणं लब्धचारित्रशुद्धिः।
सद्यो मुक्तिं भज भज सुखं भव्य! किं क्लाम्यसि त्वम्॥ ८४॥

अर्थ—हे भव्य! तूं जिनेन्द्रदेवके चरणोंका बार-बार ध्यान कर शुद्ध सम्यक्त्वसे युक्त हो—सम्यग्दृष्टि बन, पश्चात् जिनेन्द्रदेवके वचनोंको बार-बार श्रवण कर सम्यग्ज्ञानका समूह प्राप्त कर पश्चात् सुगुरुओं-

के चरणोंका बार-बार आश्रय ले—उनकी सेवा कर तूं शीघ्र ही मुक्ति-का सुख प्राप्त कर, दुःखी क्यों हो रहा है ?

भावार्थ—संसारके दुःखोंसे छूटनेका उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति जिनेन्द्रदेवकी उपासनासे होती है, सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति जिनवाणीके श्रवणसे होती है और सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति निर्ग्रन्थ गुरुओंकी सेवासे होती है। अतः इस विधिसे तीनोंको प्राप्तकर तूं मोक्षको प्राप्तकर, कायर हो व्यर्थ ही क्यों दुःखी हो रहा है ॥ ८४ ॥

इस प्रकार सम्यक्चारित्र-चिन्तामणिमें चारित्रलब्धिका
संक्षिप्त वर्णन करनेवाला चारित्रलब्धि नामका
द्वितीय प्रकाश पूर्ण हुआ।

तृतीय प्रकाश

महाव्रताधिकार

मङ्गलाचरण

वैराग्यसीमानममेयमाना
मारुह्य मुक्ता भवभोगभूमिः।
आप्ता च भूमिः शिवसौख्यलक्ष्म्या
येन स्वयं तं विनमामि नेमिम् ॥ १ ॥

अर्थ—जिन्होंने वैराग्यकी अपरिमित-उत्कृष्ट सीमापर आरूढ़ होकर संसार सम्बन्धी भोगोंकी भूमिका परित्याग किया और मोक्ष सुखरूप लक्ष्मीको स्वयं प्राप्त किया उन नेमिनाथ भगवानको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

आगे महाव्रतोंके निरूपणकी प्रतिज्ञा, महाव्रतका लक्षण तथा नाम कहते हैं—

अथ प्रवक्ष्यामि महाव्रतानि धृतानि सद्भिः शिवसौख्यकामैः।
विना न यैरत्र जनाः कदाचिद् रोद्धुं समर्था भवबन्धनानि ॥ २ ॥
यानि स्वयं सन्ति महान्ति लोके महद्भिरीशैर्विधृतानि यानि।
महत्फलं यानि दिशन्ति नाम महाव्रतानीह मतानि तानि ॥ ३ ॥

हिंसादिपापाद् विरतेर्भवन्ति मनस्विनां पञ्चविधानि तानि।
तेषां स्वरूपं क्रमशो वदाम्य हिंसा मुखानां हि महाव्रतानाम् ॥ ४ ॥

अर्थ—अब मोक्ष सुखके इच्छुक सत्पुरुषोंके द्वारा धारण किये जाने-वाले उन महाव्रतोंको कहूँगा जिनके बिना मनुष्य संसारके बन्धन रोकनेमें कभी भी समर्थ नहीं हो सकते। जो लोकमें स्वयं महान् हैं जो महान् पुरुषोंके द्वारा धारण किये गए हैं तथा जो महान् फल प्रदान करते हैं वे महाव्रत माने गये हैं। हिंसादि पाँच पापोंसे निवृत्ति होनेके कारण वे पाँच प्रकारके होते हैं तथा मनस्वी-साहसी-उपसर्ग विजयी मनुष्योंके होते हैं। यहाँ क्रमसे उन अहिंसा आदि महाव्रतोंका स्वरूप कहता हूँ।

भावार्थ—हिंसा, असत्य, चौर्य, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापोंका सर्वथा त्याग करनेसे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच महाव्रत होते हैं। इन्हें उपसर्ग तथा परिषहोंपर विजय प्राप्त करनेवाले पुरुष ही धारण कर सकते हैं। आगे इन्हीं पाँच महाव्रतोंका विस्तारसे वर्णन किया जायगा ॥ २-४ ॥

अब सर्वप्रथम अहिंसा महाव्रतका कथन करते हैं—

प्रागहिंसाव्रतं वक्ष्ये समस्तव्रतभूषणम्।
विनैतेन न शोभन्ते साधूनां व्रतसञ्चयाः ॥ ५ ॥
प्रमत्तयोगाज्जीवानां प्राणानां व्यपरोपणम्।
हिंसानाम महापापं नरकद्वारसन्निभम् ॥ ६ ॥
एतस्या विरतिर्या हि मनोवाक्कायकर्मभिः।
आद्यं महाव्रतं ज्ञेयमहिंसानाम संज्ञितम् ॥ ७ ॥

अर्थ—समस्त व्रतोंके आभूषण अहिंसा महाव्रतको कहूँगा। क्योंकि इसके बिना साधुओंके समस्त व्रतोंके समूह सुशोभित नहीं होते। प्रमत्तयोगसे जीवोंके प्राणोंका विघात करना हिंसा नामका महापाप है। यह पाप नरक द्वारके समान है। इस हिंसासे जो मन, वचन, काय-पूर्वक विरति होती है अर्थात् तीनों योगोंसे उसका त्याग होता है वही अहिंसा नामका पहला महाव्रत है ॥ ५-७ ॥

आगे जीव-जातियोंके ज्ञान बिना हिंसाका त्याग नहीं हो सकता, इसलिये संक्षेपसे जीव-जातियोंका वर्णन करते हैं—

जीवजातिपरिज्ञानमन्तरेण न साध्यते।
हिंसापापपरित्यागस्ततः किञ्चित् प्रवच्मि ताम् ॥ ८ ॥

गतिभेदेन जीवानां चतस्रः सन्ति जातयः।
श्वाभ्रतिर्यङ्नृदेवानां भेदतो भववासिनाम् ॥ ९ ॥
रत्नप्रभादिभेदेन श्वाभ्राः सप्तविधा मताः।
रुहन्ते ते महादुःखं सुचिरं पापयोगतः ॥ १० ॥
एते पञ्चेन्द्रियाः सन्ति नियमेन च संज्ञिनः।
अकालमरणं नास्ति नारकाणां कदाचन ॥ ११ ॥

अर्थ—जीव-जातियोंके ज्ञान बिना हिंसा पापका त्याग नहीं हो सकता, इसलिये जीव-जातियोंका कुछ कथन करता हूँ। नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवोंके भेदसे गति अपेक्षा संसारी जीवोंकी चार जातियाँ हैं। उनमें रत्नप्रभा आदिके भेदसे नारकी सात प्रकारके माने गये हैं। वे नारकी पापके योगसे चिर-कालतक महान् दुःख भोगते हैं। ये नारकी नियमसे पञ्चेन्द्रिय और संज्ञी होते हैं। इनका कभी अकालमरण नहीं होता ॥ ८-११ ॥

आगे तिर्यञ्चगति सम्बन्धी जीवोंका वर्णन करते हैं—

एकेन्द्रियादिभेदेन तिर्यञ्चः पञ्चधा मताः।
एकाक्षाः स्थावराः सन्ति द्व्यक्षाद्यास्तु त्रसा मताः ॥ १२ ॥
पृथिव्यप्तेजसां भेदा तरुवाय्वोश्च भेदतः।
स्थावराः पञ्चधाः सन्ति नानादुःखसमन्विताः ॥ १३ ॥
पृथिवी पृथिवीकायः पृथिवीकायिक एव च।
पृथिवीजीव इत्येतत् पृथ्वीकायचतुष्टयम् ॥ १४ ॥
जलं हि जलकायश्च जलकायिक एव च।
जलजीव इति ज्ञेयं जलकायचतुष्टयम् ॥ १५ ॥
अनलोऽनलकायश्चानलकायिक एव च।
अनलजीव इत्येतेऽनलकायाश्चतुर्विधाः ॥ १६ ॥
वायुर्हि वायुकायश्च वायुकायिक एव च।
वायुकायो हि विज्ञेया वायुकायाश्चतुर्विधाः ॥ १७ ॥
तरुर्हि तरुकायश्च तरुकायिक एव च।
तरुकाय इति ज्ञेयाश्चतुर्धास्तरुकायिकाः ॥ १८ ॥
पृथिवीकायिकजीवेन त्यक्तो यः कलेवरः।
पृथ्वीकायः स विज्ञेयः पृथ्वी सामान्यतो मता ॥ १९ ॥
पृथ्वीदेहस्थितो जीवः पृथ्वीकायिक उच्यते।
पृथिव्यां जन्म संधर्तुं जीवो यश्च समुद्यतः ॥ २० ॥

पृथ्वीजीवः स विज्ञेयः साम्प्रतं विग्रहस्थितः ।
एवं जलादिभेदानां विज्ञेया लक्षणावली ॥ २१ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय आदिके भेदसे तिर्यञ्च पाँच प्रकारके माने गये हैं । उनमें एकेन्द्रिय स्थावर हैं द्वीन्द्रिय आदि त्रस माने गये हैं । पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिके भेदसे स्थावर पाँच प्रकारके हैं । ये स्थावर नाना प्रकारके दुःखोंसे सहित हैं । पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवी-कायिक और पृथिवी जीवके भेदसे पृथिवीकायके चार भेद हैं । जल, जलकाय, जलकायिक और जल जीवके भेदसे जलकायके चार भेद हैं । अग्नि, अग्निकाय, अग्निकायिक और अग्निजीव, ये अग्निकायके चार प्रकार हैं । वायु, वायुकाय, वायुकायिक और वायुजीव ये वायुकायके चार भेद हैं । वनस्पति, वनस्पतिकाय, वनस्पतिकायिक और वनस्पति जीव ये वनस्पतिकायके चार प्रकार हैं । पृथिवी सामान्य है, पृथिवी कायिक जीवके द्वारा छोड़ा हुआ कलेवर पृथिवीकाय है, पृथिवी शरीरमें स्थित जीव पृथिवीकायिक है और पृथिवीमें जन्म लेनेके लिये उद्यत तथा सम्प्रति विग्रह गतिमें स्थित जीव पृथिवीजीव जानना चाहिये । इसी प्रकार जल, जलकाय आदि भेदोंके लक्षण जानना चाहिये ।

भावार्थ—पृथिवीकायिक जीवके द्वारा छोड़ा हुआ कलेवर जब तक अपने उसी आकारमें रहता है तब तक पृथिवीकाय कहलाता है और जब उसका आकार परिवर्तित हो जाता है तब पृथिवी सामान्य हो जाता है । ऐसा जल आदि सभी भेदोंमें समझना चाहिये । पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चारको आगममें धातु संज्ञा है, आयु पूर्ण होने पर इनका जीव निकल जाता है और उसी शरीरमें उसी कायके दूसरे जीव उत्पन्न हो जाते हैं ॥ १२-२१ ॥

आगे पृथिवी, जल, अग्नि और वायुक जीवोंके कुछ विशेष प्रकार कहते हैं—

मृदुकर्कशभेदेन सा पृथ्वी द्विविधा मता ।
गैरिकादिस्वरूपा या मृद्वी सा पृथिवी स्मृता ॥ २२ ॥

रजतस्वर्णलोहारकूटताम्रादिभेदतः ।
कर्कशपृथिवीभेदा बहवः सन्ति भूतले ॥ २३ ॥

जलस्यभेदा विद्यन्ते हिमवर्षोपलादयः ।
अग्निर्ज्वालावलीविद्युद्वारिवज्योतिरादयः ॥ २४ ॥

अग्निकायिकजीवानां विद्यन्ते बहुला भिदाः।
झञ्झाप्रभञ्जनश्चक्रवाता वायुभेदाः स्मृताः॥ २५॥

अर्थ—कोमल और कठोरके भेदसे पृथिवी दो प्रकारकी मानी गई है। गेरु आदि मिट्टी रूप पृथिवी कोमल पृथिवी है और चाँदी, स्वर्ण, लोहा, पीतल तथा तांबा आदि कठोर पृथिवीके बहुत भेद पृथिवीपर विद्यमान हैं। बर्फ, ओला आदि जलके भेद हैं। लौं, ज्वालाओंका समूह, बिजली और गाज आदि अग्निकायिक जीवोंके भेद हैं तथा झञ्झा (वर्षाके साथ चलने वाली वायु), प्रभञ्जन (तोड़-फोड़ करने वाली आँधी) और चक्रवात (गोल रूपमें नीचेसे ऊपरकी ओर जाने वाली वायु), ये सब वायुकायके भेद माने गये हैं॥ २२-२५॥

आगे वनस्पतिकायिक जीवोंके प्रकार बताते हैं—

साधारणश्च प्रत्येको द्विविधस्तरुकायिकः।
श्वासाहारादयो येषामेके सन्ति महीतले॥ २६॥
येषां चैकशरीरे स्युरनन्तादेहधारिणः।
साधारणामतास्तेहि निगोदापरसंज्ञिताः॥ २७॥
नित्येतरविभेदेन निगोदा द्विविधा मताः।
निगोदादन्यपर्यायो यैर्न लब्धः कदाचन॥ २८॥
कर्मबंधस्थियोगेन लप्स्यते नापि जातुचित्।
निगोदास्ते मता नित्य-निगोदा दुःखभागिनः॥ २९॥
अस्मिन् केचन जीवाः स्युरीदृशोऽपि जिनोदिताः।
यैर्न लब्धोऽन्यपर्यायो लप्स्यते किन्तु जातुचित्॥ ३०॥
निगोदाद् ये विनिर्गत्य भ्रमन्त्यन्यान्य देहिषु।
पुनस्तत्रैव यान्तस्ते सन्तीतरनिगोदकाः॥ ३१॥
येषु त्वेक शरीरस्य स्वामी स्यादेक एव हि।
प्रत्येकदेहिनस्ते स्युर्जिनदेवैरुदीरिताः॥ ३२॥
येषामाश्रयमासाद्य वसन्त्यन्ये त्रसेतराः।
जिनागमे समुक्तास्ते प्रत्येकाः सप्रतिष्ठिताः॥ ३३॥
येषां देहे न सन्त्यन्ये जीवा स्थावरसंज्ञिताः।
अप्रतिष्ठितप्रत्येका माकन्दाद्या जिनोदिताः॥ ३४॥
साधारणाश्च ये सन्ति ये च वा सप्रतिष्ठिताः।
त्रसोषितशरीराश्च न ते भक्ष्या दयालुभिः॥ ३५॥

अर्थ—साधारण और प्रत्येकके भेदसे वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके हैं। पृथिवी तलपर जिनके श्वास तथा आहार आदि एक हैं अर्थात् एकके श्वास लेनेपर सबको श्वास ली जाती है और एकके आहार करनेपर सबका आहारहो जाता है एवं जिनके एक शरीरमें अनन्त जीव रहते हैं वे साधारण माने गए हैं। इन्हींका दूसरा नाम निगोद है। नित्य निगोद और इतर निगोदके भेदसे निगोद दो प्रकारके माने गये हैं। जिन जीवोंने कभी निगोदसे अन्य पर्याय नहीं प्राप्तकी है और कर्मोंकी विचित्रतासे कभी प्राप्तभी नहीं करेंगे वे दुःख उठाने वाले नित्यनिगोद हैं। इस नित्यनिगोदमें कितनेहो जीव जिनेन्द्र भगवान्ने ऐसे बतलाये हैं कि जिन्होंने आज तक दूसरी पर्याय प्राप्त तो नहींकी है परन्तु प्राप्त करेंगे। निगोदसे निकलकरजो अन्य जीवोंमें भ्रमण करते हैं और पुनः उसीमें जा पहुँचते हैं वे इतरनिगोद हैं इन्हींको चातुर्गतिक निगोद भी कहते हैं। जिनमें एक शरीरका एक जीवही स्वामी होता है उन्हें जिनेन्द्रदेवने प्रत्येक कहा है। जिनका आश्रय पाकर अन्य स्थावर जीव रहते हैं जिनागममें उन्हें सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहा है। जिनके शरीरमें अन्य स्थावर जीव नहीं रहते वे आम आदि अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहे गये हैं। जो साधारण हैं, सप्रतिष्ठित हैं और जिनके शरीर में त्रसजीव रह रहे हैं वे वनस्पतियाँ दयालु पुरुषों द्वारा खाने योग्य नहीं हैं।

भावार्थ—जो मूल बीज हैं जैसे आलू, घुइंया, सकरकन्द, अदरक, मूली आदि तथा तोड़नेपर जिनका समभङ्ग होता हो जैसे धनंतर आदि के पत्ते आदि साधारण हैं। साधारण जीवोंमें एक शरीरके अनेक जीव स्वामी होते हैं परन्तु सप्रतिष्ठित प्रत्येकमें एकके आश्रय रहनेवाले जीव अपना-अपना स्वतन्त्र शरीर लेकर रहते हैं। प्रत्येकमें एक शरीरका एक ही स्वामी होता है—जैसे आम, अमरूद आदि। परन्तु जब तक इनका पूर्ण विकास नहीं हुआ है तब तक वे सप्रतिष्ठित प्रत्येक हैं अर्थात् अनेक जीवोंके आधार हैं। गोभी तथा अमर कटूमर आदिमें त्रस जीवभी रहते हैं अतः दयावन्त जीवोंके द्वारा भक्ष्य नहीं हैं—खाने योग्य नहीं हैं।

यहाँ एक बात यह भी ध्यातव्य है कि आजकल कुछ लोगोंमें जो यह धारणा चल पड़ी है कि वृक्षसे तोड़ लेनेपर फल निर्जीव हो जाता है उसे अचित्त करनेकी आवश्कता नहीं है, यह धारणा आगम सम्मत नहीं है क्योंकि एक वृक्षमें वृक्षका जीव अलग रहता है और उसके आधारपर उत्पन्न होनेवाले फलों तथा पत्तोंमें उनका जीव अलग रहता है अतः

वृक्षसे तोड़नेपर वृक्षका जीव तो फलों और पत्तोंमें नहीं रहता परन्तु फल और पत्तोंका जीव रहता है उसकी अपेक्षा वे सचित्त माने जाते हैं। सचित्तका त्यागी इन्हें अचित्त कर ही खा सकता है। यदि वृक्षसे तोड़ लेने पर पत्र आदि अचित्त हो जाते हैं तो भोगोपभोग परिमाण व्रतके अतिचारोंमें जो सचित्त, सचित्तसबन्ध और सचित्त सन्मिश्र अतिचार बतलाये गए हैं उनकी संगति नहीं बैठती। इसी प्रकार अतिथिसंविभागके अतिचारोंमें जो सचित्त निक्षेप और सचित्त विधान अतिचार बतलाये गए हैं वे भी संगत नहीं होते ॥ २६-३५ ॥

आगे त्रस जीवोंका वर्णन करते हैं—

द्व्यक्षप्रभृतयो जीवा गदितास्त्रससंज्ञिताः।
शङ्खशुक्तिकपर्दाद्या द्वीन्द्रियाः सन्ति जन्तवः ॥ ३६ ॥
त्रीन्द्रिया गदिता लोके मत्कुणवृश्चिकादयः।
चतुरक्षा मता जीवा मशकामक्षिकादयः ॥ ३७ ॥
पञ्चाक्षाः सन्ति लोकेऽस्मिन् नृगवाश्वसुरादयः।
सूक्ष्मबादरभेदेन स्थावरा द्विविधा मताः ॥ ३८ ॥
प्रत्येकास्त्रसजीवास्तु बादरा एव सम्मताः।
पञ्चेन्द्रियास्तिर्यञ्चश्च संज्ञ्यसंज्ञिप्रभेदतः ॥ ३९ ॥
द्विविधा गदिता लोके संज्ञिनो नृसुरादयः।
तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया लोके त्रिविधाः कथिता जिनैः ॥ ४० ॥
जलस्थलाभ्रचारित्वाज्झषगोपतगादयः।
आर्यम्लेच्छादिभेदेन द्विविधाः सन्ति मानवाः ॥ ४१ ॥
चतुर्णिकायभेदत्वाच्चतुर्धाः सन्ति निर्जराः।
एतासां जीवजातीनां रक्षणं प्रथमं व्रतम् ॥ ४२ ॥
षट्कायजीवजातीनां रक्षणाद् बहिरङ्गतः।
रागादीनां विभावानां वारणादन्तरङ्गतः ॥ ४३ ॥
महाव्रतं भवेत्साधोरहिंसा संज्ञितं ध्रुवम्।
अथाग्रे कथयिष्यामि सत्यं नाम महाव्रतम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—द्वीन्द्रिय आदि जीव त्रस कहलाते हैं। शंख, सीप तथा कौड़ी आदि द्वीन्द्रिय जीव हैं। खटमल तथा बिच्छू आदि जीव लोकमें त्रीन्द्रिय कहे गये हैं। मशक तथा मक्खी आदि चतुरिन्द्रिय जीव माने गये हैं और मनुष्य, गाय, घोड़ा तथा देव आदि इस संसारमें पञ्चेन्द्रिय हैं। सूक्ष्म और बादरके भेदसे स्थावर जीव दो प्रकारके माने गये हैं परन्तु प्रत्येक

वनस्पति और त्रस बादर ही कहे गये हैं। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च संज्ञी और असंज्ञीके भेदसे दो प्रकारके कहे गये हैं परन्तु मनुष्य, देव और नारकी संज्ञी ही माने गये हैं। तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रियोंके जिनेन्द्र भगवान्‌ने जलचर, स्थलचर और नभचरके भेदसे तीन भेद कहे हैं। नक्र-मगर आदि जलचर हैं, गाय आदि स्थलचर हैं और पक्षी नभचर हैं। आर्य और म्लेच्छके भेदसे मनुष्य दो प्रकारके हैं तथा चार निकाय (भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकके) भेदसे देव चार प्रकारके हैं। इन सब जीव जातियोंकी रक्षा करना प्रथम अहिंसा महाव्रत है। बहिरङ्गसे छह काय (पाँच स्थावर और त्रस) के जीवकी रक्षा करनेसे और अन्तरङ्गसे रागादि विभाव भावोंका निवारण करनेसे निश्चितही अहिंसा महाव्रत होता है। अब आगे सत्य महाव्रतका कथन करेंगे ॥ ३६-४४ ॥

प्रमत्तयोगाद्यज्जीवैरनृतं कथ्यते वचः।
तदसत्यं परिज्ञेयं तच्चतुर्विध्यमश्नुते ॥ ४५ ॥
निषेधो यत्र जायेत सद्‌भूतस्यापि वस्तुनः।
असत्यं प्रथमं ज्ञेयं तत् सद्‌भूतापलापकम् ॥ ४६ ॥
यथा सतोऽपि देवस्य नास्तीति कथनं गृहे।
यत्रासतः पदार्थस्य सद्भावो हि विधीयते ॥ ४७ ॥
असत्यमेतद् विज्ञेयमसदुद्भावनं परम्।
असत्यपि देवदत्ते सोऽस्तीति कथनं यथा ॥ ४८ ॥
मूलतोऽविद्यमानेऽर्थे तत्सदृशो निरूपणम्।
अश्वाभावे खरस्याश्व कथनं क्रियते यथा ॥ ४९ ॥
एतदन्याभिधानं च तृतीया सत्यमुच्यते।
गर्हिताप्रियरूक्षादिवचनं गर्हितावियाक् ॥ ५० ॥
एतच्चतुर्विधासत्यविपरीतं यदुच्यते।
तत्सत्यं वचनं प्रोक्तं सर्वदुःखनिवारकम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—प्रमत्तयोगसे जीवोंद्वारा जो अनृत—मिथ्याकथन किया जाता है उसे असत्य जानना चाहिये। यह असत्य चार प्रकारका है। जिसमें विद्यमान वस्तुका भी निषेध किया जाता है उसे सद्‌भूतापलापक पहला असत्य जानना चाहिये। जैसे देवदत्तके रहते हुए भी कहना कि घरमें नहीं हैं। जिसमें अविद्यमान पदार्थका सद्भाव किया जाता है वह असदु-द्भावन नामका दूसरा असत्य है। जैसे देवदत्तके न रहते हुए भी कहना कि देवदत्त है। मूल वस्तुके न रहनेपर उसके सदृश वस्तुका कथन करना। जैसे अश्वके न रहनेपर गृहस्थको भार ढोनेकी अपेक्षा अश्व कहना। यह

अन्यरूपाभिधान नामका तीसरा असत्य है। गर्हित, अप्रिय तथा कर्कश आदि वचन गर्हितादि वचन कहलाते हैं। जैसे कानाको कनवा और पंगुको लंगड़ा आदि शब्दसे संबोधित करना। यह सत्य होनेपर भी गर्हित तथा कर्कश होनेसे असत्यकी कोटिमें लिया जाता है। इन चार प्रकारके असत्यसे विपरीत जो वचन कहा जाता है वह सत्य कहलाता है। यह सत्य वचन सब दुःखोंका निवारण करने वाला है।

भावार्थ—तत्त्वार्थसूत्रमें असत्यका लक्षण लिखते हुए उमास्वामी महाराजने **'असदभिधानमनृतम्'** यह सूत्र कहा है। इसकी निम्न प्रकार व्याख्या करनेसे असत्यके चार भेद प्रतिफलित होते हैं—**'सतो विद्यमानस्य अभिधानं कथनं सदभिधानं न सदभिधानम् असदभिधानम्'** अर्थात् विद्यमान वस्तुका कहना तो सदभिधान है और उसका नहीं होना यह असदभिधान है। जैसे देवदत्तके रहते हुए भी कहना, नहीं है, यह सदपलाप—विद्यमानका नहीं कहना, पहला असत्य है। **'न सत् असत् अविद्यमानं तस्य अभिधानम् असदभिधानम्'** अर्थात् अविद्यमान वस्तुका कथन करना यह असदुद्भावन नामका एक दूसरा असत्य है। **'ईषत् सत् असत् तत्सदृशमित्यर्थः' तस्य अभिधानम्, असदभिधानम्** 'अर्थात् मूलरूपसे वस्तुका अभाव है परन्तु कुछ अंशमें कार्य निकलनेकी दृष्टिसे अन्यको अन्यरूप कहना यह अन्यरूपाभिधान नामका तोसरा असत्य है। जैसे अश्वके अभावमें भार ढोनेकी अपेक्षा गधेको अश्व कहना। **'सत् प्रशस्तं न भवतीति असत् अप्रियादि वचनं तस्य अभिधानं असदभिधानम्** अर्थात् अप्रिय, कठोर, निन्द्य वचन बोलना। इन चारों प्रकारके असत्यका जिसमें मन, वचन, कायसे त्याग किया जाता है वह सत्य महाव्रत कहलाता है॥ ४५-५१॥

आगे अज्ञानजन्य और कषायजन्यकी अपेक्षा असत्यके दो भेद कहते हैं—

अज्ञानाद्वा कषायाद्वा ब्रूतेऽसत्यं वचो जनः।
तयोः कषायजासत्यं दुर्गतेर्बन्धकारणम्॥ ५२॥
अज्ञानजनितासत्यं क्षीणमोहावधिस्मृतम्।
कषायजं तु दीक्षाया ग्रहणे परिमुच्यते॥ ५३॥
वसुराजस्य यद्वाक्यं कषायजनितं तु तत्।
दुर्गतेः कारणं जातं निन्दायाश्च निमित्तकम्॥ ५४॥
असत्यवचनत्यागात् सत्यं नाम महाव्रतम्।
प्रशस्यते सदा सद्भिः स्वात्मसन्तोषकारणम्॥ ५५॥

तिरश्चां विकलां वाणीं सकलां च स्वकीयकाम् ।
दृष्ट्वा वाणीफलं स्वस्य सफलां कुरु सत्वरम् ।। ५६ ।।
तथा प्रयासः कर्तव्यो येन स्याद् विशदं वचः ।
अर्यते-प्राप्यते सद्भिः ऋतं नाम तदुच्यते ।। ५७ ।।
मृगतृष्णां जलं ज्ञात्वा जलं प्राप्तुं समुत्सुकैः ।
न लभ्यते जलं क्वापि धावमानैरपि द्रुतम् ।। ५८ ।।
यद् वस्तु यथा चास्ति तस्य च वचनं तथा ।
तथ्यं नाम भवेत्सत्यं विसंवादविनाशकम् ।। ५९ ।।
सते हितं भवेत्सत्यं भवबाधाविनाशकम् ।
हितं मितं प्रियं ब्रूयादित्याधाय स्वचेतसि ।। ६० ।।
सद् वचः सततं ब्रूयादसत्यं मा वदो वचः ।
मौनं हि परमो धर्मस्तदभावे च सत्यवाक् ।। ६१ ।।
वक्तव्या सततं पुम्भिः सर्वसन्तोषकारिणी ।
इतोऽग्रे सम्प्रवक्ष्याम्यस्तेयं नाम महाव्रतम् ।। ६२ ।।

अर्थ—मनुष्य अज्ञान अथवा कषायसे असत्य वचन बोलता है। इसलिये असत्यके दो भेद हैं— अज्ञानजन्य और कषायजन्य। इन दोनों असत्य वचनोंमें कषायजन्य असत्य दुर्गतिके बन्धका कारण है। अज्ञान-जन्य असत्य वचन क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान तक होता है और कषायजन्य असत्य दीक्षा-ग्रहणके समय छूट जाता है। राजा वसुका असत्य वचन कषायजन्य था इसलिये वह दुर्गतिका कारण तथा निन्दा-का निमित्त हो गया। असत्य वचनका त्याग करनेसे सत्य महाव्रत होता है। यह सत्य महाव्रत अपने आपमें संतोषका कारण है तथा सत्पुरुषोंके द्वारा प्रशंसनीय है। तिर्यञ्चोंकी विकल—अस्पष्ट और अपनी सकल—स्पष्ट वाणीको देखकर वाणीके फलका विचार कर अपने वाणीको शीघ्र ही सफल करो। भाव यह है कि जिन जीवोंने पूर्व-भवमें असत्य बोलकर वाणीका—वचन बलका दुरुपयोग किया उनकी वाणी तिर्यञ्च पर्यायमें विकल—अस्पष्ट हुई और जिन्होंने पूर्व पर्यायमें सत्य बोलकर वाणीका सदुपयोग किया उनकी वाणी मनुष्य भवमें सकल—स्पष्ट हुई। ऐसा विचारकर अपनी वाणीको शीघ्र ही सफल करना चाहिये। मनुष्यको ऐसा प्रयास करना चाहिये जिससे उसके वचन विशद—स्पष्ट हों। जो सत्पुरुषोंके द्वारा प्राप्त किया जाय उसे ऋत कहते हैं। ऋत नाम सत्यका है, सत्य—यथार्थ वस्तु ही किसीके द्वारा प्राप्तकी जा सकती है। मृगतृष्णाको जल जानकर उसे प्राप्त करनेके

लिये उत्सुक मनुष्य शीघ्र दौड़ भी लगावें तो भी उसे कहीं प्राप्त नहीं कर सकते। जो वस्तु जैसी है उसको वैसा कहना तथ्य है। सत्यका एक नाम तथ्य है यह तथ्य विसंवादको नष्ट करने वाला है। सत्पुरुषोंके लिये जो वचन हितकारी हो वह सत्य कहलाता है, यह सत्य भवबाधा —संसारके जन्म, मरण सम्बन्धी दुःखोंको नष्ट करने वाला है। 'हित, मित और प्रिय बोलना चाहिये' इस नीतिको हृदयमें रख सदा सत्य वचन बोलो, असत्य वचन कभी मत बोलो। मौन ही परम धर्म है। यदि उसकी प्राप्ति सम्भव न हो तो पुरुषोंको सदा सत्य वचन ही बोलना चाहिये। यह सत्य वचन सबको सन्तुष्ट करने वाला है।

भावार्थ—ऊपर अज्ञानजन्य असत्यको क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान तक बतलाया है। उसका कारण है केवलज्ञान होनेके पूर्व तक मनुष्यके अज्ञानभाव रहता है। अज्ञान, असत्य वचनका एक कारण है। अतः कारणके सद्भावमें कार्यका अस्तित्व बताया गया है। वैसे सातिशय सप्तम गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक सब गुणस्थान ध्यानके गुणस्थान हैं। इनमें बाह्य जल्पका अभाव रहता है। 'अजैर्यष्टव्यम्' वाक्यमें अजका अर्थ पुरानी धान्य होनेपर भी पर्वतकी मांके आग्रहसे पर्वतके पक्षमें राजा वसुने निर्णय दिया था। इसलिये कषायजन्य होनेसे वह उसके पतनका कारण हुआ॥ ५२-६२॥

आगे अचौर्य महाव्रतका वर्णन करते हैं—

प्रमादाद् यददत्तस्यादानं तत्स्तेयमुच्यते।
तस्य त्यागो भवेत् स्तेयत्यागो नाम महाव्रतम्॥ ६३॥
अर्थो हि विद्यते पुंसां प्राणतुल्यो महीतले।
तन्नाशे च ततो दुःखं जायते मृत्युसन्निभम्॥ ६४॥
स्वकीयपुण्यपापाभ्यां महद्वाल्पतरं धनम्।
लभ्यते पुरुषैर्यच्च चेतनाचेतनात्मकम्॥ ६५॥
सन्तोषस्तत्र कर्तव्यो न्यायतो वा तदर्जयेत्।
द्रव्यं तथा परित्याज्यं परकीयं विवेकिना॥ ६६॥
तथा क्षेत्रमपि त्याज्यं परकीयं महीतले।
साधारणजनानां तु चर्चा दूरेऽत्र वर्तताम्॥ ६७॥
विपुलर्द्धियुताभूपा अपि निर्बलभूभुजाम्।
राष्ट्रमपहर्तुं लग्ना नित्यमेव धरातले॥ ६८॥

कलिर्विजयते कालो यस्मिन् नीतिधरा अपि ।
त्यक्त्वा न्यायपथं जाताः कष्टं कापथगामिनः ॥ ६९ ॥
रामराज्यं प्रशंसन्तो वाचा मधुरया नराः ।
कुर्वन्ति रावणं कार्यं मायाचारपरायणाः ॥ ७० ॥
जनानां क्षुद्रमाचारं दृष्ट्वा केचिद् विवेकिनः ।
भवारण्यपथभ्रान्ता गृह्णन्त्येतन्महाव्रतम् ॥ ७१ ॥

अर्थ—प्रमादसे जो अदत्तवस्तुका ग्रहण है वह स्तेय—चोरी कहलाती है, उसका त्याग करना अचौर्य महाव्रत है । पृथिवी तलपर धन, पुरुषोंके प्राणतुल्य है इसलिये उसका नाश होनेपर उन्हें मरणतुल्य दुःख होता है । अपने पुण्य पापसे पुरुषोंको जो बहुत या कम चेतना चेतनात्मक धन प्राप्त होता है उसमें सन्तोष करना चाहिये अथवा न्यायसे उसे अर्जित करना चाहिये । पृथिवीतलपर विवेकी मनुष्यको जिस प्रकार दूसरोंका द्रव्य त्याज्य है उसी प्रकार दूसरोंका क्षेत्र भी त्याज्य है । साधारण जनोंकी चर्चा तो दूर रहे विशाल सम्पत्तिसे युक्त राजा भी पृथिवीतल पर निर्बल राजाओंका राज्य अपहरण करनेमें संलग्न हैं । यह कलिकाल अपना प्रभाव बढ़ा रहा है जिसमें कि नीतिधारक मनुष्य भी न्यायमार्ग छोड़कर कुमार्गगामी हो गये हैं । आजके मायाचारी मनुष्य मधुर वाणीसे रामराज्यकी प्रशंसा करते हैं परन्तु रावणका कार्य करते हैं । संसाररूपी अटवीमें मार्ग भूले हुए कोई विवेकी जन, लोगोंका क्षुद्र आचरण देख इस अचौर्य महाव्रतको ग्रहण करते हैं ॥ ६३-७१ ॥

आगे ब्रह्मचर्य महाव्रतका वर्णन करते हैं—

अथाग्रे सम्प्रवक्ष्यामि ब्रह्मचर्यं महाव्रतम् ।
आत्मशुद्धेः परं हेतुं सर्वोपद्रवनाशनम् ॥ ७२ ॥
स्वपरस्त्रीपरित्यागो ब्रह्मचर्यं समुच्यते ।
व्यवहाराश्रिरवयात्तु स्वरूपे चरणं मतम् ॥ ७३ ॥
ब्रह्मचर्यपरिभ्रष्टा लोके सर्वत्र मानवाः ।
प्राप्नुवन्ति तिरस्कारं सुचिरं रावणा इव ॥ ७४ ॥
विधिना परिणीता या सा स्वस्य स्त्री निगद्यते ।
शेषाः परस्त्रियः प्रोक्ता दासीवेश्यादयो भुवि ॥ ७५ ॥
नरीसुरीतिरश्ची च चेतना कथिता बुधैः ।
काष्ठपाषाणनिर्माणाश्चित्रस्थाश्चेतनेतराः ॥ ७६ ॥
एताश्चतुर्विधानार्यस्त्याज्याः स्वहित[illegible] ।
वसतीनां मनोरम्ये वै [illegible]

का नाम स्पृहा पुंसां रामाणां च परस्परम् ।
ब्रह्मचर्ययुता मर्त्या गच्छेयुर्यत्र कुत्रचित् ॥ ७८ ॥
महान्तमादरं तत्र लभन्ते जगतीतले ।
ब्रह्मचर्यस्य सिद्धयर्थं कर्तव्या ह्यार्यसंगतिः ॥ ७९ ॥
भोजने परिधाने च श्रेया सात्विकता परा ।
कुशीलजनसंसर्गे निवसेन्नैव धामनि ॥ ८० ॥
यथानलस्य संसर्गात्सर्पिर्हि द्रवति द्रुतम् ।
तथैव वनितासङ्गान्नृचित्तं द्रवति द्रुतम् ॥ ८१ ॥
वृद्धाप्येकाकिनी चार्या न गच्छेत् साधुसंनिधिम् ।
द्वित्रा आर्या मिलित्वैव विदध्युर्धर्मचर्चणम् ॥ ८२ ॥
सप्तहस्तान्तरं स्थित्वा शृणुयुः श्रुतवाचनाम् ।
आचार-संहिता ह्येषा पालनीया मुनीश्वरैः ॥ ८३ ॥

अर्थ—अब आगे आत्मशुद्धिके उत्कृष्ट हेतु तथा समस्त उपद्रवोंका नाश करने वाले ब्रह्मचर्य महाव्रतको कहूंगा। व्यवहारसे स्वकीय और परकीय स्त्रीका त्याग करना ब्रह्मचर्य कहलाता है और निश्चयसे आत्मस्वरूपमें चरण-रमण करनेको ब्रह्मचर्य माना गया है। ब्रह्मचर्यसे च्युत हुए मनुष्य रावणके समान लोकमें सर्वत्र चिरकाल तक तिरस्कार प्राप्त करते रहते हैं। विधिपूर्वक विवाही गई स्त्री स्वस्त्री कहलाती है और शेष दासी तथा वेश्या आदिक परस्त्री मानी गई है। मानुषी, देवी और और तिरश्ची ये तीन चेतन स्त्रियां मानी गई हैं और काष्ठ तथा पाषाणसे निर्मित एवं चित्रमें स्थित अचेतन स्त्रियां कही गई हैं। अपना हित चाहने वाले मनुष्योंके द्वारा ये चारों प्रकारकी स्त्रियाँ त्याज्य कही गई हैं। स्त्री और पुरुष दोनोंका शरीर मलको उत्पन्न करने वाला है, मल से उत्पन्न हुआ है और दुर्गन्धको धारण करने वाला है फिर दोनोंकी परस्पर प्रीति करना क्या है? ब्रह्मचर्यसे युक्त मनुष्य पृथिवीतलपर जहां कहीं भी जाते हैं वहां महान् आदरको प्राप्त होते हैं। ब्रह्मचर्यकी सिद्धिके लिये आर्य मनुष्योंकी संगति करना चाहिये तथा भोजन और वस्त्रके विषयमें अत्यधिक सात्विकताका आश्रय लेना चाहिये। जहाँ कुशील मनुष्योंका संसर्ग हो ऐसे स्थानमें नहीं रहना चाहिये। जिस प्रकार अग्निके संसर्गसे घी पिघल जाता है उसी प्रकार स्त्रीके संगसे पुरुषका चित्त पिघल जाता है—कामातुर हो जाता है। वृद्धा आर्यिका भी अकेली साधुके पास न जावे। दो तीन मिलकर ही साधुके पास धर्म-

चर्चा करें तथा सात हाथ दूर बैठकर शास्त्रकी वाचनाको सुनें। यह आचार-संहिता मुनियोंको नियमसे पालन करने योग्य है॥ ७२-८३॥

अब आगे अपरिग्रह महाव्रतका वर्णन करते हैं—

अथाग्रे सम्प्रवक्ष्याम्यपरिग्रहमहाव्रतम्।
मूर्च्छापरिग्रहः प्रोक्तो धनधान्यादिवस्तुषु॥ ८४॥
तां त्यक्त्वा मुनयो यान्ति नैर्ग्रन्थीं परमां दशाम्।
परिग्रहपिशाचोऽयं यस्य मूर्धनि वर्तते॥ ८५॥
भ्रान्तचित्तः स सम्भूय कुरुते विविधाः क्रियाः।
मिथ्यात्वं वेदरागाश्च क्रोधादीनां चतुष्टयम्॥ ८६॥
हास्यादयश्च षट् चैते ह्यन्तरङ्गाः परिग्रहाः।
सचित्ताचित्तमिश्राणां भेदाद् बाह्यपरिग्रहाः॥ ८७॥
त्रिविधा विदिता लोके मोहोत्पादनहेतवः।
दासीदासगवाश्वाद्याः सचित्ता रजतादयः॥ ८८॥
अचित्तास्तु गृहारामा मिश्रा ज्ञेयाः परिग्रहाः।
मनोवाक्कायचेष्टाभिरेषां त्यागोऽपरिग्रहः॥ ८९॥
उभयग्रन्थसन्त्यागी कैवल्यं लभतेऽचिरात्।
परिग्रहातुरो जीवो बम्भ्रमीति भवे भवे॥ ९०॥
शिरःस्थं भारमुत्तार्य भवेन्मर्त्यो यथा सुखी।
तथा परिग्रहं भारमुत्तार्य स्यात्सुखी मुनिः॥ ९१॥
पृष्ठबद्धमहाभारो जनो मज्जति सागरे।
यथा तथात्त ग्रन्थोऽयं मज्जत्येव भवार्णवे॥ ९२॥

अर्थ—अब आगे अपरिग्रह—परिग्रह त्याग महाव्रतका कथन करेंगे। धन-धान्य आदि वस्तुओंमें जो मूर्च्छा-ममत्व परिणाम है वह परिग्रह कहा गया है। इस मूर्च्छाका त्याग कर मुनि उत्कृष्ट निर्ग्रन्थ दशाको प्राप्त होते हैं। यह परिग्रह रूपी पिशाच जिसके शिरपर रहता है वह भ्रान्त चित्त होकर नाना प्रकारकी क्रिया करता है। मिथ्यात्व एक, वेद सम्बन्धी राग तीन, क्रोधादि चार और हास्यादिक नो कषाय छह ये चौदह अन्तरङ्ग परिग्रह हैं। बाह्य परिग्रह लोकमें सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारके माने गये हैं। ये तीनों प्रकारके परिग्रह मोहोत्पत्तिके कारण हैं। दासी, दास, गाय और घोड़ा आदि सचित्त परिग्रह हैं, चांदी आदि अचित्त परिग्रह हैं और स्त्री पुरुषोंसे सहित घर तथा हरी-भरी वनस्पतियोंसे सहित बाग-बगीचे मिश्र परिग्रह जानने

योग्य हैं। इन सब परिग्रहोंका मन, वचन, काय—त्रियोगसे त्याग करना अपरिग्रह महाव्रत है। अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग—दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग करने वाला मनुष्य शीघ्र ही केवलज्ञानको प्राप्त होता है। परिग्रहसे दुःखी जीव भवभवमें—अनेक भवोंमें भ्रमण करता है। जिस प्रकार मनुष्य शिरपर स्थित भारको उतार कर सुखी हो जाता है उसी प्रकार मुनि परिग्रहका भार उतारकर सुखी हो जाता है। पीठपर बहुत भारी भारको बांधने वाला मनुष्य जिस प्रकार समुद्रमें डूबता है उसी प्रकार परिग्रहको ग्रहण करनेवाला मनुष्य संसार सागरमें नियमसे डूबता है॥ ८४-९२॥

आगे अपरिग्रह महाव्रतमें दोष लगानेवाले मुनियोंका वर्णन करते हैं—

पूर्वं परिग्रहं त्यक्त्वा नैर्ग्रन्थ्यं प्रतिपद्यते।
पश्चात् परिग्रहं व्याजात् स्वीकरोति तु यो नरः॥ ९३॥
स निपानाद् विनिर्गत्य तत्रैव पतनोद्यतः।
संघं सञ्चालयिष्यामि निर्मास्यामि च मन्दिरम्॥ ९४॥
इति व्याजो न कर्तव्यो धृत्वा निर्ग्रन्थमुद्रिकाम्।
ये हि निर्ग्रन्थतां प्राप्य स्वीकुर्वन्ति परिग्रहम्॥ ९५॥
नरकेषु निगोदेषु तेषां पातः सुनिश्चितः।
यदि कर्तृत्ववाञ्छा ते न गताः गृहवर्तिनो॥ ९६॥
केनोक्तस्त्वं मुनिर्भूर्या गृहत्यागं विधेहि च।
यथा हि निर्मले चन्द्रे कलङ्को दृश्यते द्रुतम्॥ ९७॥
तथाहि निर्मले साधौ दोषः क्षुद्रोऽपि दृश्यते।
मुनिना नैव तत्कार्यं दोषास्पदमिह क्वचित्॥ ९८॥
येन निर्ग्रन्थमुद्राया अपवादो भवेदिह।
कठिना साधुचर्यास्ति खड्गधारागतिर्यथा॥ ९९॥
निर्ग्रन्थतां तु सन्धर्तुं सामर्थ्यं नास्ति चेत्तव।
श्रद्धामात्रेण सन्तुष्टो भव हे भव्यशिरोमणे॥ १००॥

अर्थ—जो मनुष्य पहले परिग्रहका त्यागकर निर्ग्रन्थ दीक्षाको प्राप्त होता है और पीछे किसी कार्यके व्याज-बहानेसे परिग्रहको स्वीकृत करता है वह कूपसे निकल कर पुनः उसी कूपमें गिरनेके लिये उद्यत है। मैं संगृहीत परिग्रहके माध्यमसे संघका संचालन करूँगा और मन्दिर बनवाऊँगा इस प्रकारका व्याज निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण कर नहीं करना चाहिये। जो निर्ग्रन्थता—दिगम्बर मुद्राको प्राप्त कर परिग्रहको

स्वीकृत करते हैं उनका नरक और निगोदमें पड़ना सुनिश्चित है। यदि तुम्हारी गृहस्थोंमें पाई जानेवाली कर्तृत्वकी इच्छा नहीं गई थी तो तुमसे किसने कहा था कि तुम मुनि हो जाओ और गृह-त्याग कर दो। जिस प्रकार निर्मल चन्द्रमामें कलंक शीघ्र ही दिखायी देता है उसी प्रकार निर्मल साधुमें छोटा भी दोष दिखायी देता है। इस जगत् में कहीं भी मुनिको कोई सदोष कार्य नहीं करना चाहिये जिससे निर्ग्रन्थ मुद्राका अपवाद हो। साधुकी चर्या तलवारकी धारपर चलनेके समान कठिन है। यदि निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण करनेकी तुम्हारी सामर्थ्य नहीं है तो हे भव्योत्तम ! तुम श्रद्धामात्रसे संतुष्ट होओ॥ ९३-१०० ॥

अब आगे महव्रतोंकी स्थिरताके लिये पच्चीस भावनाओंका वर्णन करते हुए—प्रथम अहिंसा महाव्रतकी पांच भावनाएं कहते हैं—

अथाग्रे सम्प्रवक्ष्यामि पञ्चविंशतिभावनाः।
महाव्रतानां स्थैर्यार्थं मुनयो भावयन्ति याः॥ १०१ ॥
वाचागुप्तिर्मनोगुप्तिरीर्यासमितिपालनम् ।
आदानन्यासनाम्न्यां च समित्यां सावधानता॥ १०२ ॥
पानभोजनवृत्तिश्च पञ्चैता भावना मताः।
अहिंसाव्रतरक्षार्थं मुनयो भावयन्ति याः॥ १०३ ॥

अर्थ—अब आगे, महाव्रतोंकी रक्षाके लिये मुनि जिन भावनाओंका चिन्तवन करते हैं उन पच्चीस भावनाओंको कहेंगे। वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्या समिति, आदान निक्षेपण नामक समितिमें सावधानता और आलोकितपान-भोजनवृत्ति ये पाँच भावनाएँ हैं जिन्हें मुनि अहिंसाव्रत की रक्षाके लिये भाते हैं।

भावार्थ—जिन-जिन कार्योंसे हिंसा होती है उन सबमें सावधानी रखनेके लिये पाँच भावनाएं निश्चित की गई हैं। वास्तवमें मनुष्य उपर्युक्त पाँच ही कार्य करता है, शेष कार्य इन्हीं पाँच कार्योंमें गर्भित होते हैं॥ १०१-१०३ ॥

आगे सत्य महाव्रतकी पांच भावनाएं कहते हैं—

क्रोधलोभभयत्यागा हास्यसन्त्याग एव च।
शास्त्रानुकूलभाषा च पञ्चैता भावना मताः॥ १०४ ॥
सत्यव्रतसुरक्षार्थं साधवो भावयन्ति याः।

अर्थ—क्रोध-त्याग, लोभ-त्याग, भय-त्याग, हास्य-त्याग और शास्त्रानुकूलभाषा (अनुवीचि भाषण) ये वे पाँच भावनाएं हैं, सत्यव्रतकी रक्षाके लिये मुनि जिनका ध्यान करते हैं॥ १०४॥

आगे अचौर्य महाव्रतकी दृढ़ताके लिये पाँच भावनाओंका वर्णन करतेहैं—

शून्यागारेषु वत्स्यामि मोचिता वासकेषु च ॥ १०५ ॥
भैक्ष्यशुद्धि विधास्यामि न कुर्यामन्यरोधनम् ।
सधर्मभिर्विसंवादं न करिष्यामि जातुचित् ॥ १०६ ॥
अस्तेयव्रतरक्षार्थं पञ्चैता भावना मताः ।
मुनयो भावना ह्येता भावयन्ति पुनः पुनः ॥ १०७ ॥

अर्थ—मैं पर्वतकी गुफा आदि शून्यगृहोंमें निवास करूँगा, विमोचित दूसरोंके द्वारा छोड़े हुए स्वामित्वहीन गृहोंमें रहूँगा, भिक्षा सम्बन्धी शुद्धि रक्खूंगा, अपने स्थानपर ठहरनेवाले दूसरे साधुओंको रुकावट नहीं करूंगा तथा सहधर्मीजनोंसे विसंवाद-विरोध नहीं करूंगा अचौर्य-व्रतको रक्षाके लिये ये पाँच भावनाएं हैं । मुनि इनका बार-बार चिन्तन करते हैं ॥ १०५-१०७ ॥*

अब ब्रह्मचर्यव्रतको रक्षाके लिये पाँच भावनाएं कहते हैं—

वनितारागवर्धिन्यः कथा या विश्रुता भुवि ।
ता अहं नैव श्रोष्यामि रागिजनसमागमे ॥ १०८ ॥

---

* मूलचारमें तृतीय महाव्रतकी भावनाएं निम्न प्रकारसे कही हैं—

जायण समणुण्णमणा अणण्णभावो वि चत्तपडिसेवी ।
साधम्मिओवकरणस्सणुवीचीसेवणं चावि ॥ ३३९ ॥

याचना, समनुज्ञापना, अपनत्वका अभाव, त्यक्त प्रतिसेवना और साधर्मिकों-के उपकरणका उनके अनुकूल सेवन करना ।

१. याचना—अपेक्षित वस्तुको गुरु या उसके स्वामी सहधर्मी मुनिसे विनयपूर्वक माँगना ।

२. समनुज्ञापना-किसीकी वस्तुको यदि बिना अनुमतिके ली हो तो उसकी सूचना देना और कहना कि शीघ्रताके कारण मैं आपसे पहले आज्ञा नहीं ले सका ।

३. अन्यकी वस्तुमें अपनत्व भाव नहीं करना—यह दूसरेको है, उसकी आज्ञासे मैं इसका उपयोग कर रहा हूँ ।

४. त्यक्त प्रतिसेवी-जिसका अन्य साधुने त्याग कर दिया है, अपना स्वा-मित्व छोड़ दिया है ऐसे उपकरण-शास्त्र आदिका उपयोग करना ।

५. साधर्मिकोपकरण-अनुवीचि सेवन—साधर्मी मुनियोंके उपकरणोंका उनकी आज्ञासे आगमानुसार सेवन करना ।

कामिनीकुचकक्षादिसुन्दराङ्गविलोकनम् ।
रागान्नैव करिष्यामि कामाकुलितचेतसा ॥ १०९ ॥

गार्हस्थ्यावसरे भोगा भुक्ता ये हि मनोहराः ।
नैव तेषां करिष्यामि स्मरणं जातुचिन्मुदा ॥ ११० ॥

कामवृद्धौ सहाया ये रसमात्रादयो मताः ।
तेषां संसेवनं नैव करिष्यामि कदाचन ॥ १११ ॥

स्वशरीरस्य संस्कारं त्वङ्मलमोचनादिकम् ।
करिष्यामि प्रमोदान्नो देहसौन्दर्यहेतवे ॥ ११२ ॥

ब्रह्मचर्यस्य रक्षार्थं पञ्चैता भावना मताः ।
भाव्यन्ते मुनिभिर्नित्यं कर्मणां क्षपणोद्यतैः ॥ ११३ ॥

अर्थ—स्त्रियोंमें राग बढ़ानेवाली जो कथाएँ पृथिवीपर प्रसिद्ध हैं रागीजनोंके समागम—गोष्ठीमें मैं उन्हें नहीं सुनूंगा। कामसे आकुलित चित्त होकर स्त्रियोंके स्तन तथा कक्ष आदि सुन्दर अङ्गोंका रागसे अवलोकन नहीं करूँगा। गृहस्थ अवस्थामें जो मनोहर भोग भोगे थे उनका कभी हर्षपूर्वक स्मरण नहीं करूँगा। काम-वृद्धिमें सहायक जो रस मात्रा आदिक हैं उनका सेवन कभी नहीं करूंगा और शरीरकी सुन्दरताके लिये त्वचाका मैल छुड़ाना आदि कामोंसे शरीरका संस्कार—सजावट नहीं करूंगा। ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये ये पांच भावनाएं हैं। कर्मोंका क्षय करनेमें उद्यत मुनिराज इनकी निरन्तर भावना करते हैं ॥ १०८-११३ ॥

अब अपरिग्रह व्रतकी पांच भावनाएं कहते हैं—

इष्टानिष्टेषु पञ्चानामक्षाणां विषयेषु च ।
रागद्वेषपरित्यागः पञ्चैता भावना मताः ॥ ११४ ॥
नैर्ग्रन्थ्यव्रतरक्षार्थं मुनयो भावयन्ति याः ।
व्रतसंरक्षणायोक्ताः पञ्चविंशति भावनाः ॥ ११५ ॥

अर्थ—पञ्च इन्द्रियोंके इष्ट-अनिष्ट विषयोंमें राग-द्वेषका त्याग करना, ये वे पांच भावनाएं हैं, जिनका कि अपरिग्रह व्रतकी रक्षाके लिये मुनि चिन्तन करते हैं। इस प्रकार पांच महाव्रतोंकी रक्षाके लिये पच्चीस भावनाएं कहीं ॥ ११४-११५ ॥

आगे मुनिव्रतकी प्रधानता बतलाते हुए महाव्रताधिकारका समारोप करते हैं—

अनादिकालाद् भ्रमता भवेऽस्मिन् जीवेन या दुःखततिः प्रभुक्ता।
तस्या विनाशे यतिवृत्तमेव समर्थमत्रास्ति न किंचिदन्यात् ॥ ११६ ॥
तदेव शक्त्या भुविधारणीयं तदेव भक्त्या मनसा प्रचिन्त्यम्।
तदेव वाचा वचनीयमत्र तदेव कामात् करणीयमस्ति ॥ ११७ ॥

अर्थ—अनादि कालसे इस संसारमें भ्रमण करनेवाले जीवने जो दुःखोंका समूह भोगा है उसका नाश करनेमें मुनिव्रत—सकल चारित्र ही समर्थ है अन्य कुछ नहीं। इसलिये पृथिवीपर अपनी शक्तिके अनुसार वही मुनिव्रत धारण करनेके योग्य हैं, भक्तिपूर्वक वही मुनिव्रत मनसे चिन्तनीय हैं वही मुनिव्रत वचनसे कहने योग्य हैं और वही मुनिव्रत शरीरसे—कायसे करने योग्य हैं ॥ ११६-११७ ॥

इस प्रकार सम्यक्-चारित्र-चिन्तामणि ग्रन्थमें महाव्रतोंका वर्णन करनेवाला तृतीय प्रकाश पूर्ण हुआ।

चतुर्थ प्रकाश

पञ्चसमित्यधिकार

मङ्गलाचरण

येनासिना ध्यानमयेन भिन्ना कर्मारिसेना महती विदीर्णा।
स वीरनाथो गुणिभिः सनाथो मोक्षस्य लाभाय सदा ममास्तु ॥ १ ॥

अर्थ—जिन्होंने ध्यान रूप कृपाणके द्वारा बहुत बड़ी कर्म शत्रुओंकी सेनाको छिन्न-भिन्न तथा विदीर्ण कर दिया एवं जो अनेक गुणीजनों गणधरादिसे सहित थे वे भगवान् महावीर मेरे मोक्ष-प्राप्तिके लिये हों ॥ १ ॥

आगे महाव्रतोंकी रक्षाके लिये समितियोंका वर्णन करते हैं—

यथा कृषीवलाः क्षेत्र-रक्षार्थं परितो वृतीः।
कुर्वन्ति व्रतरक्षार्थं समितीश्च तथर्षयः ॥ २ ॥
ईर्याभाषादिभेदेन समितिः पञ्चधा मता।
अथासां लक्षणं किंचिद् दर्शयामि यथागमम् ॥ ३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसान खेतकी रक्षाके लिये चारों ओरसे

वृति—कांटे आदिकी बाड़ लगाते हैं उसी प्रकार मुनि व्रतोंकी रक्षाके लिये समितियोंको धारण करते हैं। ईर्या भाषा आदिके भेदसे समिति पाँच प्रकारकी मानी गई हैं अर्थात् समितिके ईर्या, भाषा, एषण, आदान निक्षेपण और व्युत्सर्ग (प्रतिष्ठापना) ये पाँच भेद हैं। अब आगमके अनुसार इनका कुछ लक्षण दिखाता हूँ॥ २-३॥

अब सर्वप्रथम ईर्या समितिका वर्णन करते हैं—

प्रमादरहिता वृत्तिः समितिः सन्निरूप्यते।
चर्यार्थं तीर्थयात्रार्थं गुरूणां वन्दनाय च॥ ४॥
जिनधर्मप्रसाराय मुनीनां गमनं भवेत्।
तडागारामशैलादिदर्शनाय न साधवः॥ ५॥
विहरन्ति कदाचिद् वै लौकिकानन्दहेतवे।
रजन्यां तमसाछन्नमार्गायां न व्रजन्ति ते॥ ६॥
सति सूर्योदये मार्गे दृष्टतत्रस्थवस्तुके।
नृगवाश्वखरादीनां यातायातविमर्दिते॥ ७॥
हरिद्घासाद्यसंकीर्णे साधवो विहरन्ति हि।
दण्डप्रमितभूभागं पश्यन्तः संव्रजन्ति ते॥ ८॥
न मन्दं नातिशीघ्रं च विहरन्ति मुनीश्वराः।
शौचबाधानिवृत्यर्थं रात्रौ चेद् गमनं भवेत्॥ ९॥
दिवाविलोकिते स्थाने पिच्छेन परिमार्जिते।
बाधांनिवर्तयेत्साधुः करपृष्ठपरीक्षिते॥ १०॥
क्षुद्रजन्तुकरक्षार्थं निष्प्रमादं व्रजन्ति ते।
सम्यग् विलोकिते क्षेत्रे साधूनां विहृतिर्भवेत्॥ ११॥
पादनिक्षेपवेलायां कश्चन क्षुद्रजन्तुकः।
आगत्य चेन्मृतिं यायान्न साधोस्तन्निमित्तकः॥ १२॥
सूक्ष्मोऽपि दर्शितो बन्ध आचार्यैर्हि जिनागमे।
प्रमाद एव बन्धस्य यतो हेतुः प्रदर्शितः॥ १३॥
पद्भ्यामेव साधूनां विहारो जिनसम्मतः।
अतो यात्रादिकव्याजाद् गृह्णानः शिबिकाश्रयम्॥ १४॥
खण्डयत्स्येव स्वस्येर्यासमितिं नात्र संशयः।
भवेन्निःश्रेयसप्राप्तिर्निर्दोषाचरणेन हि॥ १५॥

अर्थ—प्रमादसे रहित वृत्ति समिति कहलाती है। चर्या, तीर्थयात्रा, गुरु-वन्दना और जिनधर्मके प्रसारके लिये मुनियोंका गमन होता है। तालाब, बाग तथा पर्वत आदिको देखनेके लिये तथा लौकिक आनन्दके

निमित्त निश्चयसे मुनि कभी विहार नहीं करते हैं। अन्धकारसे जहाँ मार्ग आच्छन्न-व्याप्त रहता है ऐसी रात्रिमें साधु विहार नहीं करते। सूर्योदय होनेपर, जिसमें स्थित वस्तुएँ दिख गई हैं, मनुष्य, गाय, घोड़ा तथा गधा आदिके यातायातसे जो क्षुण्ण—विमर्दित हो गया है एवं जो हरी घास आदिसे व्याप्त नहीं है ऐसे मार्गमें साधु विहार करते हैं। वे मुनिराज दण्ड—चार हाथ प्रमित भूप्रदेशको देखते हुए चलते हैं, न अत्यन्त धीरे-धीरे चलते हैं और न अत्यन्त शीघ्र। शौचादिक बाधाकी निवृत्तिके लिये यदि रातमें जाना होता है तो दिनमें देखे हुए, पीछीसे परिमार्जित और हाथके पृष्ठ भागसे परीक्षित स्थानमें बाधाकी निवृत्ति करते हैं। वे क्षुद्रजीवोंकी रक्षाके लिये प्रमाद रहित होकर चलते हैं। साधुओंका विहार अच्छी तरह देखे हुए स्थानमें होता है। पैर रखते समय यदि कोई क्षुद्रजीव आकर मर जाय तो साधुको उसके निमित्तसे होनेवाला थोड़ा भी बन्ध आचार्योंने जिनागममें नहीं बताया है क्योंकि बन्धका हेतु प्रमाद ही बताया गया है। साधुओंका पैदल विहार ही जिनसम्मत है। अतः यात्रादिकके व्याजसे पालकीका आश्रय करनेवाला साधु अपनी ईर्या समितिको नियमसे खण्डित करता है, इसमें संदेह नहीं है। परमार्थसे मोक्षकी प्राप्ति निर्दोष आचरणसे ही होती है ॥ ४-१५ ॥*

अब भाषा समितिका स्वरूप कहते हैं—

अथात्र क्रियते चर्चा भाषासमितिलक्षणः।
योऽसत्य वाक्परित्यागो जातः सत्यमहाव्रते ॥ १६ ॥
रक्षार्थं तस्य भाषायाः समितिः सम्प्रयुज्यते।
भाषासमितिसंधारी मुनिराजो निरन्तरम् ॥ १७ ॥
हितां ब्रूते मितां ब्रूते प्रियां ब्रूते च भारतीम्।
तस्य वदनचन्द्राद्यो निःसृतो वचनोच्चयः ॥ १८ ॥
पीयूषनिर्झर इव श्रोत्रानन्दं ददाति सः।
वागेवात्र महीलोकेऽन्योन्यप्रीतिविधायिनी ॥ १९ ॥
काकप्रियरवं श्रुत्वा पिकस्य मधुरां कुहूम्।
उभयोरन्तरं वेत्ति भाषाविज्ञानशोभितः ॥ २० ॥
सधर्मभिः कृतालापो भाषासमितिधारकः।
धर्मपक्षं दृढीकर्तुं बह्वपि वक्ति जातुचित् ॥ २१ ॥

---

* विशेष—सल्लेखनाके लिये निर्मापकाचार्य के पास पहुँचनेके लिये अशक्ति वश शिविकाका आश्रय लिया जा सकता है।

भाषायाः सौष्ठवं प्राप्य यः स्वच्छन्दं प्रभाषते।
निरर्थकं भवेत्तस्य भाषायाः सौष्ठवं महत् ॥ २२ ॥

एकस्य वचनं श्रुत्वा लोके युद्धः प्रजायते।
एकस्य वचनं श्रुत्वा युद्धशान्तिः प्रजायते ॥ २३ ॥

एकस्य वचनं श्रोतुं समायान्ति सहस्रशः।
मर्त्या, एकस्य संश्रोतुं द्वित्रास्तिष्ठन्ति मानवाः ॥ २४ ॥

व्यर्थं वचनविस्तारं विदधाति च यो नरः।
अल्पायोऽधिक दानीव विषादं लभते स वै ॥ २५ ॥

दोलेव भारती यस्य भवतीह चलाचला।
प्रत्ययं तस्य मर्त्यस्य को नु कुर्याद् धरातले ॥ २६ ॥

स्वप्रतिष्ठां स्थिरीकर्तुं भूमिलोके महस्विनाम्।
भाषासमितिवन्नान्यत् साधनं वर्तते क्वचित् ॥ २७ ॥

अर्थ—अब यहाँ भाषा समितिके लक्षणकी चर्चाकी जाती है। सत्यमहाव्रतमें जो असत्यवचनका परित्याग हुआ था उसकी रक्षाके लिये भाषा समितिका सुप्रयोग किया जाता है। भाषा समितिके धारक मुनिराज सदा हित, मित और प्रिय वाणी बोलते हैं। उनके मुखचन्द्रसे जो वचन समूह निकलता है वह अमृतके झिरनेके समान श्रोताओंको आनन्द देता है। इस पृथिवी लोकमें वाणी ही परस्पर प्रीति करानेवाली है। कौएका अप्रिय शब्द और कोयलकी मीठी कुहू सुनकर भाषा विज्ञानसे शोभित मनुष्य दोनोंका अन्तर जान लेता है। सधर्मीजनोंके साथ वार्तालाप करनेवाला भाषासमितिका धारक मुनि धर्मका पक्ष दृढ़ करनेके लिये कभी बहुत भी बोलता है। भाषाके सौष्ठव स्पष्टताको प्राप्तकर जो स्वच्छन्द रूपसे बोलता है उसकी भाषाका बहुत भारी सौष्ठव निरर्थक होता है। एकका वचन सुनकर लोकमें युद्ध भड़क उठता है और एकका वचन सुनकर युद्ध शान्त हो जाता है। एकका वचन सुननेके लिये हजारों मनुष्य आते हैं और एकका वचन सुननेके लिये दो तीन ही मनुष्य बैठते हैं। जो मनुष्य व्यर्थका वचन विस्तार करता है वह अल्प आयवाला होकर अधिक दान करनेवालेके समान विषादको प्राप्त होता है। इस जगत्में जिसकी वाणी दोलाके समान अत्यन्त चञ्चल है उस मनुष्यका विश्वास भूतलपर कौन करेगा? अर्थात् कोई नहीं। महस्वी-तेजस्वी मनुष्योंको पृथिवीपर अपनी

प्रतिष्ठा स्थिर रखनेके लिये भाषासमितिके समान कहीं दूसरा साधन नहीं है ॥ १६-२७ ॥

आगे एषणा समितिकी चर्चा करते हैं—

अथैषणा समित्याश्च कापि चर्चा विधीयते ।
एषणाभुक्तिरित्यर्थस्तस्यां या सावधानता ॥ २८ ॥
एषणासमितिः प्रोक्ता सा विज्ञात-जिनागमैः ।
औदारिकमिदं वर्ष्म विना भुक्ति न तिष्ठति ॥ २९ ॥
अतस्तस्य सुरक्षार्थमाहारः प्रविधीयते ।
दिवसे ह्येकवारं यः स्थितः सन् पाणिपात्रके ॥ ३० ॥
यथाविधि यथाप्राप्तमाहारं विदधाति सः ।
एषणासमितिः सैषा मुनिभिर्विनिरूपिता ॥ ३१ ॥
ईदृशो हि ममाहारो दीयेत श्रावकैर्जनैः ।
एव वाञ्छा न तेषां स्याज्जैनाचारतपस्विनाम् ॥ ३२ ॥
अन्तराये समायाते विषीदन्ति न साधवः ।
स्वात्मध्यानपराः सन्तः कुर्वते कर्मनिर्जराम् ॥ ३३ ॥
साधवः सुकुलीनानां जैनाचारस्य धारिणाम् ।
गृहेषु नवधा भक्त्या प्रगृहीताः प्रभुञ्जते ॥ ३४ ॥
कथिता एषणादोषाश्चत्वारिंशत् षडुत्तराः ।
वर्जनीयाः सदा ह्येते द्वात्रिंशच्चान्तरायकाः ॥ ३५ ॥

अर्थ—अब एषणा समितिकी कुछ चर्चाकी जाती है। एषणाका अर्थ भोजन है, उसमें जो सावधानता है वह जिनागमके ज्ञाता पुरुषों द्वारा एषणा समिति कही गई है। यह औदारिक शरीर आहारके बिना नहीं ठहरता इसलिये उसकी सुरक्षाके लिये आहार किया जाता है। जो दिनमें एकबार खड़े होकर पाणिपात्रमें विधिपूर्वक प्राप्त हुए आहारको ग्रहण करता है उसकी यह विधि मुनियों द्वारा एषणा समिति कही गई है। सरस, नीरस, कडुआ अथवा मीठा जैसा आहार प्राप्त होता है साधु उसीमें सन्तुष्ट रहते हैं। श्रावक लोग मुझे ऐसा आहार देते तो ठीक होता, ऐसी इच्छा जैनाचारके तपस्वियोंके नहीं होती। अन्तराय आनेपर साधु विषाद नहीं करते हैं किन्तु स्वात्मध्यानमें तत्पर रहते हुए कर्मोंकी निर्जरा करते हैं। साधु उत्तम कुलीन तथा जैनाचारके धारक श्रावकोंके घरमें नवधाभक्तिसे पडगाहे जानेपर आहार करते हैं। एषणा सम्बन्धी छियालीस दोष और बत्तीस अन्तराय

कहे गये हैं।[१] ये सब छोड़ने योग्य हैं अर्थात् इन्हें टालकर आहार करना चाहिये ॥ २८-३५ ॥

आगे माधुकरी आदि पांच वृत्तियोंका वर्णन करते हुए पहले माधुकरी वृत्तिका कथन करते हैं—

माधुकर्यादिवृत्तीनां धारका मुनिपुङ्गवाः।
विरक्ताः स्वशरीरेभ्यो विचरन्ति महीतले ॥ ३६ ॥
यथा मधुकरः पुष्पाद् रसं गृह्णन् तदुद्भवम्।
बाधां न कुरुते पुष्पं तथा साधुर्गृहस्थतः ॥ ३७ ॥
आहारं स्वेप्सितं गृह्णन् न तं पीडयति क्वचित्।
एषा माधुकरीवृत्तिर्गदिता चरणागमे ॥ ३८ ॥
एषैव भ्रामरीवृत्तिः कथ्यतेऽपरनामतः।

अर्थ—माधुकरी आदि वृत्तियोंको धारण करनेवाले मुनिराज अपने शरीरसे विरक्त हो पृथिवीतलपर विहार करते हैं। जिस प्रकार मधुकर—भ्रमर फूलसे उसके रसको ग्रहण करता हुआ फूलको बाधा नहीं करता उसी प्रकार साधु गृहस्थसे अपने योग्य शुद्ध आहार लेते हुए गृहस्थको पीडित नहीं करते। यह चरणानुयोगके शास्त्रोंमें माधुकरी वृत्ति कही गई है, यही वृत्ति दूसरे नामसे भ्रामरीवृत्ति भी कही जाती है ॥ ३६-३८ ॥

अब गोचरीवृत्तिका स्वरूप कहते हैं—

यथा गौर्घाससम्पूलं ददतं नैव पश्यति ॥ ३९ ॥
पश्यति घाससम्पूलं तथायं हि मुनीश्वरः।
ग्रासं पश्यति पाणिस्थं ददतं नैव पश्यति ॥ ४० ॥
गृहिणां गृहमध्ये या रागवर्धकभूतयः।
ताः प्रत्यस्य न दृष्टिः स्यात् स्वात्मन्येव हि सा भवेत् ॥ ४१ ॥
एषा गोचरीवृत्तिः कथ्यते सूरिसत्तमैः।
अहो वैराग्यमाहात्म्यं गदितुं केन शक्यते ॥ ४२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार गाय घासका पूला देनेवालेको नहीं देखती किन्तु घासके पूलको देखती है उसी प्रकार वे मुनिराज पाणिपात्रमें स्थित ग्रासको देखते हैं, ग्रास देनेवालेको नहीं। गृहस्थोंके घरमें जो रागवर्द्धक सम्पदा है उसकी ओर इनकी दृष्टि नहीं रहती, निश्चयसे उनकी दृष्टि

१. छयालीस दोष और बत्तीस अन्तरायोंका वर्णन परिशिष्टमें देखें।

अपने स्वरूपमें ही रहती है। श्रेष्ठ आचार्योंके द्वारा यह गोचरीवृत्ति कही जाती है। अहो! वैराग्यकी महिमा कहनेके लिये कौन समर्थ है? ॥ ३९-४२ ॥

आगे अग्निप्रशमनीवृत्ति कहते हैं—

कस्यचिद् भवने वह्निर्ज्वालासन्ततिरुत्थिता।
तस्याः प्रशमने हेतुर्जलधारैव मृग्यते ॥ ४३ ॥
तज्जलं मधुरं वा स्यात्क्षारं वा च भवेत् क्वचित्।
एवं हृदुदरमध्येऽपि क्षुधाग्निर्वर्धते चिरात् ॥ ४४ ॥
तस्य प्रशमने हेतुः पाणिस्था ग्राससन्ततिः।
सरसा नीरसा सा स्यादिति चिन्ता न विद्यते ॥ ४५ ॥
अग्निप्रशमनी नाम वृत्तिरेषा निगद्यते।

अर्थ—यदि किसीके मकानमें अग्नि-ज्वालाओंका समूह उठा है तो उसे शान्त करनेके लिये जलधारा ही खोजी जाती है, कहीं वह जल मीठा होता है और कहीं खारा भी हो सकता है। इसी प्रकार उदरके भीतर क्षुधारूपी अग्नि चिरकालसे बढ़ रही है। उसे शान्त करनेके लिये हाथमें स्थित ग्रासोंका समूह ही कारण है। वह ग्रास समूह सरस हो या नीरस, इसका विचार नहीं रहता। यह अग्नि प्रशमनी-वृत्ति कही जाती है ॥ ४३-४५ ॥

अब गर्तपूरण वृत्तिको कहते हैं—

गृहाङ्गणगतो गर्तो यथा केनापि पूर्यते ॥ ४६ ॥
तथायमौदरो गर्तः सरसैर्नीरसैरपि।
ग्रासैः पूरयितुं शक्यो विरक्तस्य महामुनेः ॥ ४७ ॥
गर्तपूरणनाम्नीयं प्रशस्ता वृत्तिरिष्यते।

अर्थ—जिस प्रकार घरके आंगनका गर्त किसी साधारण मिट्टी आदिके द्वारा भर दिया जाता है उसी प्रकार विरक्त महामुनिके उदरका गर्त सरस अथवा नीरस ग्रासोंके द्वारा भर दिया जाता है अर्थात् मुनिराज सरस और नीरस आहारमें रागद्वेष नहीं करते। यह गर्तपूरण नामकी उत्तम वृत्ति मानी जाती है ॥ ४६-४७ ॥

आगे अक्षम्रक्षण वृत्तिका निरूपण करते हैं—

अक्षस्य म्रक्षणे जाते गन्त्री लक्ष्यं प्रगच्छति ॥ ४८ ॥

यथा तर्थापदेहोऽयं शकटाभा प्रगच्छति।
मोक्षाख्यपत्तनं यावदाहारो म्रक्षणोपमः॥ ४९॥
एवाक्षम्रक्षणीवृत्तिः प्रशस्या चरणागमे।
इत्थं दीक्षाधरैर्नित्यं सुरक्ष्याः पञ्चवृत्तयः॥ ५०॥
स्वस्याहारनिमित्तं यः सार्धं गृह्णाति साधनम्।
एषणासमितिस्तस्य चिन्तनीयास्ति भूतले॥ ५१॥

अर्थ—जिस प्रकार अक्षपर (चाकके छिद्रमें स्थित भौंरापर) म्रक्षण-ओंगन लगा देनेसे गाड़ी अपने लक्ष्य स्थान तक चली जाती है उसी प्रकार गाड़ीके समान मुनिका यह शरीर मोक्षरूपी नगरको ओर जा रहा है, आहार इसके लिये ओंगनके समान है। चरणानुयोगमें यह अक्षम्रक्षण-वृत्ति प्रशंसनीय मानी गई है। इस प्रकार दीक्षाके धारक मुनियोंको इन पांच वृत्तियोंका अच्छी तरह पालन करना चाहिये। जो मुनि अपने आहारके निमित्त साधन-सामग्री चौका आदि साथ लेकर चलते हैं उनकी ऐषणा समिति पृथिवीतलपर चिन्तनीय है॥ ४८-५१॥

अब आदान-निक्षेपण समितिकी चर्चा करते हैं—

शौचोपकरणं कुण्डी पिच्छं संयमसाधनम्।
ज्ञानोपकरणं शास्त्रमिति साधुपरिग्रहः॥ ५२॥
आदाने क्षेपणे चैषां या साधोः सावधानता।
सैवाह्यादाननिक्षेपसमितिः परिकथ्यते॥ ५३॥
बलाहकावलीं दृष्ट्वा गगने श्यामलप्रभाम्।
मध्येमध्ये च गर्जन्तीं विद्युत्स्फातिचमत्कृताम्॥ ५४॥
पिच्छपङ्क्तिं समास्फाल्य नृत्यन्तः केकिनो वने।
स्वयमुज्झन्ति पिच्छानि तान्यादाय वनेचराः॥ ५५॥
वितरन्ति मनुष्येभ्यस्ते चादाय तपस्विनाम्।
पिच्छिकानिर्मितेर्हेतोः सङ्घेषुप्रेषयन्ति च॥ ५६॥
तेभ्यः पिच्छस्य निर्माणं स्वयं कुर्वन्ति साधवः।
पिच्छिकानां मृदुस्पर्शो जीवानां नैव पीडकः॥ ५७॥
अतो दिगम्बरः साधुः स्वीकुरुते तमेव हि।
गृध्राणां च बकानां च पक्षाः पिच्छतया क्वचित्॥ ५८॥
गृहीतः केन चिज्जातु न तत्पक्षः सनातनः।
नारिकेलेन काष्ठेन कुण्डी या हि विधीयते॥ ५९॥

सैवात्र साधुभिर्ग्राह्या नैव धातुविनिर्मिता।
अल्पमूल्या गृहस्थानां या वा नैवोपकारिणी॥ ६० ॥
तस्याहरणसम्भीतिर्न स्याज्जातु तपस्विनाम्।
एकद्वित्रीणि शास्त्राणि साधूनां हि तपस्विनाम्॥ ६१ ॥
ज्ञानोपकरणत्वेन न निषिद्धानि सूरिभिः।
चातुर्मासस्य बेलायां बहुशास्त्रावलोडनम्॥ ६२ ॥
न निषिद्धं मुनीन्द्राणां तत्स्वामित्वविवर्जनात्।
ग्रन्थनिर्माणवेलायां तत्सहयोगकारिणाम्॥ ६३ ॥
पठनं बहुशास्त्राणां विधेयं ननु वर्तते।
ज्ञानस्य वर्धनं शास्त्रं ज्ञानोपकरणं मतम्॥ ६४ ॥
एषामादानवेलायां निक्षेपावसरे तथा।
जीवबाधा न कर्तव्याः स्वात्मकल्याणवाञ्छिभिः॥ ६५ ॥

अर्थ—शौचका उपकरण कमण्डलु, संयमका साधन पिच्छी और ज्ञानका उपकरण शास्त्र, यही साधुका परिग्रह है। इनके उठाने और रखनेमें साधुकी जो सावधानता है वही आदान-निक्षेपण समिति कहलाती है। आकाशमें काली काली, बीच बीचमें गरजती और बिजलीकी कौंधसे चमकती घनघटाको देखकर मयूर वनमें अपनी पिच्छावलीको फैलाकर नृत्य करते हुए पंखोंको स्वयं छोड़ते हैं। वनेचर-भील आदि उन्हें लेकर मनुष्योंको देते हैं, वे उन्हें लेकर पिच्छिकाएँ बनानेके लिये साधुओंके संघमें भेजते हैं। उन पंखोंसे साधु स्वयं ही पिच्छिकाएँ बनाते हैं। पिच्छिकाओंका कोमल स्पर्श जीवोंको पीड़ा देनवाला नहीं है, अतः दिगम्बर साधु उसी मयूर पिच्छको ग्रहण करते हैं। कहींपर किन्हींने परिस्थितिवश गीध और बगलोंके पांख भी पिछी रूपसे स्वीकृत किये हैं पर वह पक्ष समीचीन नहीं है।

नारियल या काठसे जो कमण्डलु बनाया जाता है वही साधुओं द्वारा ग्रहण करने योग्य है, धातुओंसे निर्मित नहीं। जो अल्पमूल्य हो और गृहस्थोंके काम आने वाला न हो ऐसा कमण्डलु ही ग्राह्य है क्योंकि ऐसे कमण्डलुके चुराये जानेका भय साधुओंको नहीं होता।

तपस्वी साधु एक, दो या तीन शास्त्र साथमें रक्खें तो ज्ञानका उपकरण होनेसे आचार्योंने उनका निषेध नहीं किया है। चातुर्मासके समय बहुत शास्त्रोंका आलोडन-देखना-संभालना मुनियोंके लिये निषिद्ध नहीं, क्योंकि उनके वे स्वामी नहीं होते। किसी मन्दिर या

सरस्वतीभवनमें संगृहीत शास्त्रोंकी अपेक्षा यह कथन है। ग्रन्थनिर्माण-के समय उसके सहकारी बहुत शास्त्रोंका पठन भी विधेय है—करने योग्य है। शास्त्र ज्ञानको बढ़ाते हैं इसलिये ज्ञानोपकरण कहलाते हैं। आत्म-कल्याणके इच्छुक साधुओंको इन सब उपकरणोंके उठाते और रखते समय जीवबाधा नहीं करना चाहिये ॥ ५२-६५ ॥

अब आगे व्युत्सर्ग समितिकी चर्चा करते हैं—

इतोऽग्रे संविधास्यामि व्युत्सर्गसमितेः कथाम्।
मलमूत्रादिबाधाया निवृत्तिर्जन्तुवर्जिते ॥ ६६ ॥
हरिद्घासाद्यसंकीर्णे ह्यनिरुद्धे तिरोहिते।
स्थाने निवर्तनीयास्ति विपिने विजनेऽपि वा ॥ ६७ ॥
मले मलस्य पातो नो विधातव्यः कदाचन।
शौचालयेषु शौचस्य करणं नोचितं क्वचित् ॥ ६८ ॥
एषा शरीरवृत्तिर्हि करणीया शरीरिभिः।
जीवहिंसापरीहारे ध्यानं धेयं त्ववश्यतः ॥ ६९ ॥

अर्थ—इसके आगे व्युत्सर्ग समितिकी कथा करूंगा जो जीव-जन्तुओंसे रहित हो, हरी घास आदिसे व्याप्त न हो, रुकावटसे रहित हो तथा तिरोहित—परदा सहित हो। ऐसे स्थानपर जंगल अथवा निर्जन स्थलपर मलमूत्रादि बाधाकी निवृत्ति करना चाहिये। मलके ऊपर मल कभी नहीं पटकना चाहिये तथा शौचालयोंमें शौच कहीं नहीं करना चाहिये। मलमूत्र त्याग, यह शरीरकी वृत्ति है अतः अवश्य करनी पड़ती है परन्तु जीवहिंसाके बचाव पर अवश्य ध्यान देना चाहिये ॥ ६६-६९ ॥

आगे समिति-अधिकारका समारोप करते हैं—

गृहीतव्रतेषु प्रदोषप्रसारो, भवत्यत्र लोके प्रमादप्रभावात्।
अतो दोषहान्युद्यतैर्भव्यलोकैः प्रमादे प्रहारो विधेयो व्रताढ्यैः ॥ ७० ॥

अर्थ—इस लोकमें गृहीतव्रतोंके मध्य प्रमादके प्रभावसे दोषोंका प्रसार होता है अर्थात् अनेक दोष लगते हैं अतः दोषोंको नष्ट करनेके लिये उद्यत व्रती भव्य जीवोंको प्रमादपर प्रहार करना चाहिये।

भावार्थ—प्रमादके परित्यागसे ही समितियोंका पालन होता है और समितियोंसे महाव्रतकी रक्षा होती है। अतः चलने, बोलने, आहार करने, रखने, उठाने और मलमूत्र छोड़नेमें प्रमादका त्याग करना चाहिये ॥ ७० ॥

आत्मबलवर्धनेन प्रमादमन्तर्गतं विहातुं ये ।
उद्यमशीला भुवने त एव भव्याः प्रमादरहिताः स्युः ।। ७१ ।।

अर्थ—आत्मबलकी वृद्धि द्वारा जो भीतरी प्रमादको छोड़नेके लिये प्रयत्नशील हैं, वे भव्य ही प्रमादरहित हो सकते हैं ।। ७१ ।।

इस प्रकार सम्यक्-चारित्र-चिन्तामणिमें पञ्चसमितियोंका
वर्णन करनेवाला समित्यधिकार नामका
चतुर्थ प्रकाश पूर्ण हुआ ।

पञ्चम प्रकाश

इन्द्रियविजयाधिकारः

मङ्गलाचरणम्

एते हृषीकहरयः संयमकविकापरप्रयोगेण ।
दान्ता यैर्हि समन्तात्ते मुनिराजाः सदा प्रणम्या मे ।। १ ।।

अर्थ—जिन्होंने संयम रूपी लगामके उत्कृष्ट प्रयोगसे इन इन्द्रिय-रूपी अश्वोंका सब ओरसे दमन कर लिया है वे मुनिराज मेरे सदा प्रणाम करनेके योग्य हैं। तात्पर्य यह है कि मैं इन्द्रियविजयी साधुओंको सदा प्रणाम करता हूँ ।। १ ।।

आगे इन्द्रियविजय नामक मूलगुणोंका वर्णन करता हूँ—

अथेन्द्रियजयं लक्ष्यं कृत्वा किञ्चिद् वदाम्यहम् ।
अकृत्वाक्षजयं लोके स्याद् दीक्षाया विडम्बना ।। २ ।।
हृषीकविषयाधीना लोका भ्राम्यन्ति सर्वतः ।
क्षितिमूले नभोमार्गे शैले सिन्धुतले तथा ।। ३ ।।
कामिनीकोमलस्पर्शलालसा लम्पटा नराः ।
इहैव विविधापायानमुत्र श्वभ्रवेदनाः ।। ४ ।।
सहन्ते नारका भूत्वा रावणवन्निरन्तरम् ।
यथा करेणुकुट्टिन्याः कायाकुलितचेतसः ।। ५ ।।
धावमाना गजा गर्ते पतन्तः परतन्त्रताम् ।
प्राप्नुवन्ति महादुःखं चिरं सीदन्ति च क्षितौ ।। ६ ।।

तथा कामेन्द्रियाधीना मनुजा अत्र भूतले।
विविधव्याधिमासाद्य मज्जन्ति भवसागरे ॥ ७ ॥
के के न पतिता लोके नारीसङ्गमुपाश्रिताः।
अपारदुःखसम्भारे वितते भवसागरे ॥ ८ ॥

अर्थ—अब मैं इन्द्रियजयको लक्ष्यकर कुछ कहता हूँ क्योंकि इन्द्रिय-जय किये बिना लोकमें मुनि दीक्षाकी विडम्बना हो होती है। इन्द्रिय-विषयोंके अधीन मनुष्य लोकमें पृथिवीमूल—खान, आकाश-मार्ग, पर्वत और समुद्रके तलमें सब ओर भ्रमण करते हैं। स्त्रियोंके कोमल स्पर्शकी लालसा रखनेवाले कामी पुरुष इसी लोकमें नाना प्रकारके कष्ट सहते हैं और परभवमें नारकी बन रावणके समान निरन्तर दुःख भोगते हैं। जिस प्रकार कृत्रिम हस्तिनोके शरीरको स्पर्शके लिये आकुलित चित्त वाले हाथी दौड़कर गड्ढेमें पड़ परतन्त्रता रूप महादुःखको प्राप्त होते हैं तथा पृथिवीपर चिरकाल तक दुःखी रहते हैं उसी प्रकार कामेन्द्रियके अधीन मनुष्य इस भूतलपर नाना प्रकारको व्याधियोंको पाकर संसार सागरमें मग्न होते हैं। लोकमें स्त्रियोंका संग पाकर अपार दुःखके समूहसे युक्त विस्तृत भवसागरमें कौन-कौन पतित नहीं हुए हैं? अर्थात् सभी हुए हैं ॥ २-८ ॥

आगे जिह्वा-इन्द्रिय विजयका कथन करते हैं—

जिह्वेन्द्रियरसाधीनाः पाठीनाः पुष्टदेहिनः।
यथा बन्धनमायान्ति प्राणहीना भवन्ति च ॥ ९ ॥
तथा जिह्वेन्द्रियाधीना मर्त्या मृत्युमुपागताः।
दृश्यन्ते दूषिताहार-पीडिता जगतीतले ॥ १० ॥
केचित्तिक्तप्रिया लोके केचिच्च मधुरप्रियाः।
केचित्क्षारप्रियाः सन्ति केचिदक्षारभोजिनः ॥ ११ ॥
विरुद्धाहारपाने च लब्धे ह्युद्भूतकोपनाः।
कुर्वन्तः कलहं नित्यं खिन्नचित्ता भवन्ति हा ॥ १२ ॥
धन्यास्ते मुनयो लोके नीरसाहारकारिणः।
आजीवं त्यक्त मिष्टाशा आजीवं क्षारभोजिनः ॥ १३ ॥
आजीवमुष्णपानीयं विरसं संपिबन्ति च।
आजीवं त्यक्तदुग्धा ये ह्याजीवं घृतमोचिनः ॥ १४ ॥
तेषां पुरो गृहस्थानां गार्हस्थ्यं संकटाततम्।
मेरुसर्षपयोर्मध्ये यावदन्तरमस्ति हि ॥ १५ ॥

तावदन्तरमस्त्यत्र मुनीनां गृहिणां पुरः ।
चतुरङ्गुलमानेयं रसना प्रेरणी तथा ॥ १६ ॥
ददाति यादृशं दुःखं न ततोऽन्यत्तु तादृशम् ।
हंहो भव्यानयो रागं त्यक्त्वा त्वं हि सुखी भव ॥ १७ ॥

अर्थ—जिह्वा इन्द्रियके अधीन हुए पुष्ट शरीर वाले मच्छ जिस प्रकार बन्धनको प्राप्त हो मारे जाते हैं उसी प्रकार जिह्वा इन्द्रियके अधीन मनुष्य दूषित आहारसे पीड़ित हो पृथिवीतलपर मृत्युको प्राप्त होते देखे जाते हैं। जगत्में कोई तिक्त प्रिय है—चिरपरा भोजन रुचिसे करते हैं, कोई मधुर भोजनको पसन्द करते हैं, कोई खारा भोजन अच्छा मानते हैं और कोई बिना नमकका भोजन करते हैं। कुछ लोग विरुद्ध आहार पानीके मिलने पर क्रुद्ध हो कलह करते हुए निरन्तर खिन्न चित्त रहते हैं। लोकमें वे मुनि धन्य हैं जो नीरस आहार करते हैं। किन्हींके जीवन पर्यन्तके लिये मिष्ठान्नका त्याग है, किन्हींके नमकका त्याग है, कोई नीरस गर्म पानी पीते हैं, कोई जीवन-पर्यन्तके लिये दूधका त्याग किये हैं और यावज्जीवन घी छोड़े हुए हैं। उन मुनि-राजोंके सामने गृहस्थोंका गार्हस्थ्य जीवन संकटोंसे भरा हुआ है। मेरु पर्वत और सरसोंमें जितना अन्तर है उतना अन्तर मुनि और गृहस्थोंके सामने है। चार अंगुल प्रमाण रसना इन्द्रिय तथा कामेन्द्रिय जैसा दुःख देती है वैसा दुःख उनसे भिन्न अन्य इन्द्रियां नहीं देतीं। आचार्य कहते हैं—हे भव्य! इन दोनों इन्द्रियों का राग छोड़, तूं सुखी हो जा ॥ ६-१७ ॥

आगे घ्राणेन्द्रिय जयका वर्णन करते हैं—

रक्तपीतारविन्दानां संचयेन समाचिते ।
विकसत्पुण्डरीकाणां मण्डलेन च मण्डिते ॥ १८ ॥
कञ्जकिञ्जल्कपीताभसलिले सलिलाशये ।
सौगन्ध्यमापिबन् गन्धलोलुपो भ्रमरो भ्रमन् ॥ १९ ॥
सायं निमीलिते पद्मे ह्यासक्त्या संस्थितोऽभवत् ।
प्रातः सूर्योदये जाते पद्मे विकसिते सति ॥ २० ॥
क्षणादेवोत्पतिष्यामि स्वेष्टधामेति चिन्तयन् ।
रजन्याः प्रथमे भागे सलिलं पातुमागतः ॥ २१ ॥
गज एको जलं पीत्वा पद्मिनीं तां चचर्व सः ।
भ्रमरः स्वविचारेण सह मृत्युमुपागतः ॥ २२ ॥
सौगन्ध्यलोभतो मृत्युं यथा भ्रमर आगतः ।
तथायं मनुजो लोभाद् विविधैः कष्टमश्नुते ॥ २३ ॥

इत्थं विचार्य निर्ग्रन्थो गन्धलोभं विमुञ्चति।
स्वात्मन्येव रतो योगी परगन्धं न काङ्क्षति॥ २४॥
दुर्गन्धे वा सुगन्धे वा घ्राणेन्द्रियजयी मुनिः।
माध्यस्थ्यं याति वस्तूनां स्वरूपं चिन्तयन् सदा॥ २५॥

अर्थ—लाल पीले कमलोंके समूहसे व्याप्त खिलते हुए सफेद कमलों-के समूहसे मणि और कमलोंको केशरसे पीतवर्ण जलसे युक्त जलाशयमें सुगन्धिकाका पान करता हुआ गन्धका लोभो भ्रमर संध्याके समय निमोलित—संकुचित कमलमें यह विचार करता हुआ स्थित हो गया कि प्रातःकाल सूर्योदय होनेपर जब कमल खिलेगा तब मैं शीघ्र ही अपने इष्ट स्थानपर उड़ जाऊँगा। उधर रात्रिके प्रथम भागमें पानो पोनेके लिये एक हाथी आया और पानी पीकर उस कमलिनीको चबा गया। भ्रमर अपने विचारोंके साथ मृत्युको प्राप्त हो गया। जिस प्रकार भ्रमर सुगन्धके लोभसे मृत्युको प्राप्त हुआ उसी प्रकार यह मनुष्य सुगन्धके लोभसे अनेक कष्टोंको प्राप्त होता है। ऐसा विचारकर निर्ग्रन्थ मुनि गन्धका लोभ छोड़ते हैं। अपने आत्मस्वरूपमें रमण करने वाले योगी अन्य गन्धकी इच्छा नहीं करते। घ्राणेन्द्रिय-जयो मुनि वस्तुओंके स्वरूपका विचार करते हुए दुर्गन्ध या सुगन्धमें माध्यस्थ्य भावको प्राप्त होते हैं॥ १८-२५॥

आगे चक्षु-इन्द्रिय विजयका वर्णन करते हैं—

उज्ज्वलज्ज्योतिराकाङ्क्षी चक्षुर्विषयसंगतः।
शलभो मृत्युमायाति यथायं मानवस्तथा॥ २६॥
अयं गौरो ह्ययं श्यामो रक्तोऽयं पीत एव सः।
एवं विकल्पजालेन गृहस्थाः सन्ति पीडिताः॥ २७॥
गौराङ्गी रोचते मह्यं श्यामाङ्गी नैव रोचते।
इत्थं विकल्पजालान्तः पतिता भविनो जनाः॥ २८॥
रोषं तोषं च बिभ्राणाः कुर्वते कर्मबन्धनम्।
मुनयो वीतरागाद्या रागद्वेषबहिर्गताः॥ २९॥
चिन्तयन्त्यात्मरूपं तु रूपगन्धादिवर्जितम्।
आत्मध्यानरतानां किं रूपं कश्च वा रसः॥ ३०॥

अर्थ—उज्ज्वल ज्योतिको चाहने वाला, चक्षु विषयका लोभी पतंगा जिस प्रकार मृत्युको प्राप्त होता है उसी प्रकार यह मनुष्य भी चक्षु इन्द्रियके विषयका लोभो बन मृत्युको प्राप्त होता है। यह गौर वर्ण है

यह श्याम वर्ण है, यह लाल है और यह पीला है इस प्रकारके विकल्प, जालसे गृहस्थ पीड़ित है। मुझे गौर वर्ण स्त्री अच्छी लगती है और श्याम वर्ण स्त्री अच्छी नहीं लगती, इस प्रकारके विकल्प समूहके बीचमें पड़े संसारी जीव रागद्वेषको धारण करते हुए कर्मबन्ध करते हैं परन्तु रागद्वेषसे रहित वीतराग मुनि, रूप तथा गन्ध आदिसे रहित आत्म-स्वरूपका ध्यान करते हैं। आत्मध्यानमें लीन साधुओंके लिये रूप क्या है और गन्ध क्या है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥ २९-३० ॥

आगे कर्णेन्द्रिय-जय मूलगुणकी चर्चा करते हैं—

वीणावेणुस्वरादीनां रागो येषां न विद्यते।
खरोष्ट्रकादिशब्देषु द्वेषो येषां न जायते ॥ ३१ ॥
प्रशंसाशब्दमाकर्ण्य हर्षो येषां न जायते।
निन्दाशब्दावलीं श्रुत्वा द्वेषो येषां न वर्तते ॥ ३२ ॥
त एव मुनयो धीराः श्रोत्राक्षजयिनो मताः।
यथा वीणारवं श्रुत्वा निश्चलतां गता मृगाः ॥ ३३ ॥
वधिकानां शरैर्भिन्ना म्रियन्ते काननेऽचिरात्।
तथा गीतप्रिया मर्त्या आसक्ता रम्यगीतिषु ॥ ३४ ॥
अन्योऽन्यं कलहायन्ते म्रियन्ते च यदा कदा।
एकैकाक्षवशा जीवाः प्राणान्तमुपयान्ति चेत् ॥ ३५ ॥
तदा सर्वेन्द्रियाधीना लभन्ते तं कथं न हि।
इत्थं विचार्य निर्ग्रन्था अक्षाणां जयिनोऽभवन् ॥ ३६ ॥
इष्टानिष्टप्रसङ्गेषु रागद्वेषौ न याति यः।
तमक्षजयिनं साधुं प्रणमामि पुनः पुनः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिन्हें वीणा और बाँसुरीके स्वर आदिका राग नहीं है और गर्दभ तथा ऊँट आदिके शब्दोंमें जिन्हें द्वेष नहीं होता। प्रशंसाका शब्द सुनकर जिन्हें हर्ष नहीं होता और निन्दाके शब्द सुनकर जिन्हें द्वेष नहीं होता वे धीर वीर मुनि ही कर्णेन्द्रिय-जयी माने गये हैं। जिस प्रकार वीणाका शब्द सुन स्थिरताको प्राप्त हुए हरिण वधिकोंके बाणोंसे विदीर्ण हो वनमें शीघ्र मारे जाते हैं उसी प्रकार संगीतके प्रेमी तथा मनोहर गीतोंमें आसक्त मनुष्य परस्पर कलह करते और जब कभी मरते रहते हैं। एक-एक इन्द्रियके अधीन जीव जब मृत्युको प्राप्त होते हैं तब सभी इन्द्रियोंके अधीन रहने वाले मनुष्य मृत्युको प्राप्त क्यों नहीं होंगे ? ऐसा विचार कर निर्ग्रन्थ मुनि इन्द्रिय विजयी होते

हैं। जिनके इष्ट अनिष्ट प्रसंगोंमें रागद्वेष नहीं है उन इन्द्रिय विजयी साधुओंको मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ॥ ३१-३७॥

आगे इन्द्रिय-विजय प्रकरणका समारोप करते हैं—

रागद्वेषौ यस्य नाशं प्रयातौ
नोत्पद्येते तोषरोषौ च यस्य।
सोऽयं साधुः प्राप्य निर्ग्रन्थवृत्तं
शुक्लध्यानात्कर्मनाशं करोति॥ ३८॥

अर्थ—जिसके रागद्वेष नाशको प्राप्त हो चुके हैं तथा जिसके तोष और रोष उत्पन्न नहीं होते वह साधु हो निर्ग्रन्थ चारित्र—दिगम्बर मुनि मुद्राको प्राप्तकर शुक्ल ध्यानसे कर्मोंका क्षय करता है॥ ३८॥

इस प्रकार सम्यक्-चारित्र-चिन्तामणिमें पञ्चेन्द्रियोंके विजयका वर्णन करनेवाला इन्द्रियजयाधिकार नामका पञ्चम प्रकाश पूर्ण हुआ।

षष्ठ प्रकाश

षडावश्यकाधिकारः

मङ्गलाचरण

सम्यक्त्वबोधामलवृत्तमूलो
मोक्षस्य मार्गो गदितो जिनेन्द्रैः।
तं प्राप्य ये मोक्षपुरं प्रयाता-
स्तान् मुक्तिकान्तान् प्रणमामि नित्यम्॥ १॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान्ने सम्यग्दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और निर्मल सम्यक्-चारित्ररूप मूलसे युक्त मोक्ष मार्ग कहा है। इसे प्राप्तकर जो मोक्ष नगरको प्राप्त हुए हैं उन मुक्तिकान्त सिद्ध परमेष्ठियोंको मैं निरन्तर प्रणाम करता हूँ॥ १॥

आगे आवश्यक शब्दका निरुक्त अर्थ तथा उसके नाम कहते हैं—

अथावश्यककार्याणि साधूनां कथयाम्यहम्।
रागादीनां वशो यो न सोऽवशः कथ्यते जिनैः॥ २॥

अवशस्य मुनेः कार्यमावश्यं हि समुच्यते।
'क' प्रत्ययविधानेन तदेवावश्यकं भवेत् ॥ ३ ॥

यद्वावश्यं च यत् कृत्यं तदावश्यकमिष्यते।
समता वन्दना स्तोत्रं प्रतिक्रमणमेव च ॥ ४ ॥

प्रत्याख्यानं तनूत्सर्ग इत्येतानि च तानि षट्।
मुनयः श्रद्धया तानि कुर्वन्तीह दिने दिने ॥ ५ ॥

अर्थ—अब साधुओंके आवश्यक कार्योंका कथन करता हूँ। जो रागादिकके वश नहीं है वह जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा अवश कहा जाता है। अवश मुनिका जो कार्य है वह आवश्य कहलाता है तथा स्वार्थ में 'क' प्रत्यय करनेसे आवश्यक शब्द होता है (**न वशः अवशः, अवशस्येदम् आवश्यम्, आवश्यमेव आवश्यकम्**) अथवा जो कार्य अवश्य ही करने योग्य है वह आवश्यक कहलाता है। समता, वन्दना, स्तोत्र-स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये वे छह आवश्यक कार्य हैं जिन्हें मुनि प्रतिदिन श्रद्धासे करते हैं ॥ २-५ ॥

आगे समता आवश्यकका वर्णन करते हैं—

इष्टानिष्टप्रसङ्गेषु माध्यस्थ्यं यत् तपस्विनाम्।
साम्यं तत् साधुभिर्ज्ञेयं कर्मारातिविनाशनम् ॥ ६ ॥

साम्यभावस्य सिद्ध्यर्थं साधुरेवं विचिन्तयेत्।
पुनः पुनश्चिन्तनेन विचारः सुस्थिरो भवेत् ॥ ७ ॥

अर्थ—इष्ट-अनिष्ट—अनुकूल प्रतिकूल प्रसङ्गोंमें साधुओंका जो मध्यस्थ भाव है उसे साधुओंको साम्यभाव—समता जानना चाहिये। यह साम्यभाव कर्मरूप शत्रुओंका नाश करने वाला है। साम्यभावकी सिद्धिके लिये साधुको ऐसा चिन्तन करना चाहिये क्योंकि बार-बार चिन्तन करनेसे विचार अत्यन्त स्थिर—दृढ़ हो जाता है ॥ ६-७ ॥

जीवे जीवे सन्ति मे साम्यभावाः
सर्वे जीवाः सन्तु ये साम्ययुक्ताः।
आर्त्तरौद्रं ध्यानयुग्मं विहाय
कुर्वे सम्यग्भावनां साम्यरूपाम् ॥ ८ ॥

पृथ्वीतोये वह्निवायू च वृक्षो
युग्माक्षाद्याः सन्ति ये जीवभेदाः।

ते मे सर्वे क्षान्तियुक्ता भवन्तु
क्षान्त्या तुल्यं नास्ति रत्नं यदत्र ॥ ९ ॥
दुःखे सौख्ये बन्धुवर्गे रिपौ वा
स्वर्णे तार्णे वा गृहे प्रेतगेहे ।
मृत्यूत्पस्योर्वा समन्ताज् जिनेन्दो
मध्यस्थं मे मानसं साम्प्रतं स्यात् ॥ १० ॥
माता तातः पुत्रमित्राणि बन्धु-
र्भार्याश्यालः स्वामिनः सेवकाद्याः ।
सर्वे भिन्नाश्चिच्चमत्कारमात्रा-
दस्मद्रूपाच्चिचमत्कार शून्याः ॥ ११ ॥
मोहध्वान्तेनावृतोद्बोधचक्षुः
स्वात्माकारं न स्म पश्यामि जातु ।
अद्योद्भिन्नज्योतिरश्मिप्रजातः
स्वात्माकारं तेन पश्यामि सम्यक् ॥ १२ ॥
रागद्वेषौ निराकृत्य चित्तं कृत्वा च सुस्थिरम् ।
सामायिकं प्रकर्तव्यं कृतिकर्मपुरस्सरम् ॥ १३ ॥

अर्थ—जोव-जोवपर—प्रत्येक जोवपर मेरा साम्यभाव है, सब जीव भो मुझपर साम्यभावसे युक्त होंवे। आर्त्त और रौद्र इन दोनों ध्यानोंको छोड़कर मैं साम्यभावरूप सम्यग्भावना करता हूँ। पृथिवो, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा द्वीन्द्रियादिक जो जीवोंके भेद हैं वे सब मुझपर क्षमाभावसे युक्त हों क्योंकि इस जगत्में क्षमाके तुल्य दूसरा रत्न नहीं है। दुःखमें, सुखमें, बन्धु वर्गमें, शत्रुमें, सुवर्णमें, तृण, समूहमें, महलमें, श्मशानमें, मृत्युमें और जन्ममें हे जिनचन्द्र! आपके प्रसादसे मेरा मन इस समय मध्यस्थ भावसे युक्त हो। माता, पिता, पुत्र, मित्र, बन्धु, भार्या, साले, स्वामो और सेवक आदि चैतन्य चमत्कारसे शून्य हैं तथा चैतन्य चमत्कार रूप मेरे स्वरूपसे भिन्न हैं। मेरा ज्ञानरूपी चक्षु मोहरूपो अन्धकारसे आच्छादित था इसलिये मैं आत्मस्वरूपको नहीं देख सका। आज मेरी ज्ञान ज्योति उद्भिन्न—प्रकट हुई है, इसलिये मैं अपने आत्माके स्वरूपको अच्छो तरह देख रहा हूं।

रागद्वेषको दूर कर तथा चित्तको स्थिर कर कृतिकर्म—आवर्त तथा नति पूर्वक यथा समय सामायिक करना चाहिये ॥ ८-१३ ॥

आगे वन्दना नामक आवश्यकका वर्णन करते हैं—

चतुर्विंशतितीर्थेशामेकस्य स्तवनं यदा।
क्रियते साधुसन्तत्या तदा सा वन्दना स्मृता ॥ १४ ॥

अर्थ—साधु समूह द्वारा जब चौबीस तीर्थङ्करोंमेंसे किसी एक तीर्थङ्करकी स्तुतिकी जाती है तब वह वन्दना नामक स्तवन माना गया है ॥ १४ ॥

विशेष—इस संदर्भमें कषायपाहुडं, प्रथम भाग, पृष्ठ १०२-१०३ पर दिया गया शंका समाधान विशिष्ट रुचिकर है—

'एयस्य तित्थयरस्स ममंसणं वंदणा णाम। एक्कजिणजिणालय वंदणा ण कम्मक्खयं कुणइ, सेसजिण जिणालयच्चा सण दुवारेणुप्पण्णकम्मबंधहेउत्तादो। ण तस्स मोक्खो जइणत्तं वा; पक्खवायदूसियस्स णाणचरणणिबंधणसम्मत्ताभावादो तदो एगस्स णमंसणमणुववण्णं त्ति'।

शंका—एक जिन और एक जिनालयकी वन्दना कर्मोंका क्षय नहीं कर सकती क्योंकि इससे शेष जिन और जिनालयोंकी आसादना—अपमान होता है। इस आसादनासे अशुभ कर्मोंका बन्ध होता है। इसके सिवाय एकको वंदना करने वालेको मोक्ष और जैनत्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती। पक्षपातसे दूषित मनुष्यके ज्ञान और चारित्रके कारणभूत सम्यग्दर्शनका अभाव है, अतः एक जिन या जिनालयकी नमस्काररूप वन्दना नहीं करनी चाहिये।

एत्थ परिहारो वुच्चदे—ण ताव पक्खवाओ अत्थि, एक्कं चेव जिणं जिणालयं वा वंदामि त्ति णियमाभावादो। ण च सेस जिणजिणालयाणं वंदणा ण कया चेव, अणंतणाणदंसणविरियसुहादिदुवारेण एपत्तमावण्णेसु अणंतेसु जिणेसु एयवंदणाय सव्वेसिं पि वंदणुवत्तीदो। एवं संते ण च चउवीसत्थयम्मि वंदणाए अंतब्भावो होदि, दव्वट्ठिय पज्जवट्ठियणयाणमेयत्तविरोहादो। ण च सव्वो पक्खवाओ असुह कम्मबंध हेऊ चेवेत्ति णियमो अत्थि, खीणमोहजिणविसयपक्ख वायम्मि तदणु वलंभादो। एग जिणवंदणाफलेण समाणफलत्तादो ण सेसजिण वंदणा फलवंता, तदो सेसजिणवंदणासु अहियफलाणुवलंभादो एक्कस्स चेव वंदणा कायव्वा, अणंतेसु जिणेसु अक्कमेण छदुमत्थुवयोग पउत्तीए विसेसपरूवणाए असंभवादो वा एक्कस्सेव जिणस्स वंदणा कायव्वा त्ति ण एसो वि एयंग्गहो कायव्वो, एयंतावहारणस्स सव्वहा दुण्णयत्तप्पसंगादो। तम्हा एवं विह त्रिप्पडिवत्तिणिरायरण

मुहेण एय जिणवंदणाए णिरवज्जभावजाणावण दुवारेण वंदणा विहाणं तप्फलाणं च परूवणं कुणइ त्ति वंदणाए कलव्वं ससमओ।

समाधान—उपर्युक्त शंकाका परिहार करते हैं—एक जिन या जिनालयकी वन्दना करनेसे पक्षपात नहीं होगा क्योंकि वन्दना करनेवालेके ऐसी प्रतिज्ञारूप नियम नहीं पाया जाता कि मैं एक जिण या जिनालयकी वन्दना करूंगा तथा ऐसा करनेसे शेष जिन और जिनालयोंको वन्दना नहीं की, ऐसा नहीं है। क्योंकि अनन्तज्ञान दर्शनवीर्य, सुख आदिके द्वारा सब एकत्वको प्राप्त हैं अतः एकको वन्दना करनेसे सबकी वन्दना हो जाती है। यद्यपि ऐसा है तो भी चतुर्विंशति स्तवमें वन्दनाका अन्तर्भाव नहीं होता क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयका एकत्व—अभेद माननेमें विरोध आता है। फिर सभी पक्षपात अशुभ-कर्म बन्धका हेतु भी नहीं है क्योंकि मोहरहित जिनेन्द्रके पक्षपातमें अशुभ कर्मोंका बन्ध नहीं होता। एकजिन और सभी जिनोंकी वन्दनाका समान फल है। अतः समस्त जिनोंको वन्दनाका करना फल सहित नहीं है इसलिये एकको वन्दना करनी चाहिये। दूसरी बात यह भी है कि छद्मस्थका उपयोग एक साथ सबकी स्तुतिमें लग भी नहीं सकता। अतः एककी ही वन्दना करनी चाहिये, ऐसा एकान्त आग्रह नहीं करना चाहिये क्योंकि एकान्तका आग्रह दुर्णय—मिथ्यानय है। इसलिये उपर्युक्त बाधाओंके निराकरणपूर्वक एक जिनकी वन्दना निरवद्य है यह बतलानेके लिये वन्दनाका प्रकार और उसके फलका प्ररूपण किया जाता है।

एक तीर्थङ्करके स्तवनरूप वन्दनामें महावीर तीर्थङ्करका स्तवन इस प्रकार है—

अगाधेभवाब्धौ पतन्तं जनं यः
समुद्दिश्य तत्त्वं सुखाढ्यं चकार।
दयाब्धिः सुखाब्धिः सदासौख्यरूपः
स वीरः प्रवीरः प्रमोदं प्रदद्यात्॥ १५॥

अर्थ—जिन्होंने अगाध-गहरे संसार सागरमें पड़ते हुए जीवोंको तत्त्वका उपदेश देकर सुखी किया था, जो दयाके सागर थे, सुखके समुद्र थे तथा सदा सुख स्वरूप थे वे अतिशय शूरवीर महावीर भगवान् श्रेष्ठ आनन्दको प्रदान करें॥ १५॥

विदग्धोऽपिलोको कृतो येन मुग्धः
स कामः प्रकामं रतं चात्मतत्त्वे ।
न शक्तो बभूव प्रजेतुं मनाग् यं
स वीरः प्रवीरः प्रमोदं प्रदद्यात् ॥ १६ ॥

अर्थ—जिसके द्वारा चतुर मनुष्य भी मुग्ध-मूढ़ कर दिये गये थे वह काम आत्मतत्त्वमें लीन रहने वाले जिन्हें जीतनेके लिये कुछ भी समर्थ नहीं हो सका था वे अतिशय शूरवोर महावीर भगवान् श्रेष्ठ आनन्दको प्रदान करें ॥ १६ ॥

जगज्जीवघातीनि घातीनि कृत्वा
हतान्येव लेभे परं ज्ञानतत्त्वम् ।
अलोकं च लोकं ददर्शात्मना यः
स वीरः प्रवीरः प्रमोदं प्रदद्यात् ॥ १७ ॥

अर्थ—जगत्के जीवोंका घात करने वाले घातियाकर्मोंको नष्ट करके हो जिन्होंने उत्कृष्ट ज्ञानतत्त्व-केवलज्ञानको प्राप्त किया था और अपने आपके द्वारा जिन्होंने लोक अलोकको देखा था वे अतिशय शूरवोर महावीर भगवान् श्रेष्ठ आनन्द प्रदान करें ॥ १७ ॥

सशिष्यः स विप्रो गुरुर्गौतमोयं
समासीनमाराद् विलोक्यैवनूनम् ।
मदं भूरिमानं मुमोच स्वकीयं
स वीरः प्रवीरः प्रमोदं प्रदद्यात् ॥ १८ ॥

अर्थ—शिष्यों सहित गुरु गौतम ब्राह्मणने समवसरणमें विराजमान जिन्हें दूरसे ही देखकर निश्चित है अपना बहुत भारो अहंकार छोड़ दिया था वे अत्यन्त शूरवोर महावोर भगवान् श्रेष्ठ आनन्द प्रदान करें ॥ १८ ॥

सुरेन्द्रानुगेनालकानामकेनाऽऽ
कृतास्थानभूमिं समास्थाय दिव्यैः ।
वचोभिर्य ईशो दिदेशार्थसार्थं
स वीरः प्रवीरः प्रमोदं प्रदद्यात् ॥ १९ ॥

अर्थ—इन्द्रके अनुगामी-आज्ञाकारी कुबेरके द्वारा निर्मित समवसरणमें विराजमान होकर जिन्होंने दिव्यध्वनिके द्वारा पदार्थ समूहका उपदेश दिया था वे अतिशय शूरवोर महावोर भगवान् श्रेष्ठ आनन्द प्रदान करें ॥ १९ ॥

विहृत्यार्यखण्डे सुधर्मामृतस्य
प्रवृष्ट्या समन्ताज्जगज्जीवसस्यान् ।
प्रवृद्धान् चकाराभ्ररूपोऽधिपो यः
स वीरः प्रवीरः प्रमोदं प्रदद्यात् ।। २० ।।

अर्थ—जिन्होंने आर्यखण्डमें विहारकर सद्धर्मरूप अमृतकी वर्षासे सर्वत्र जगत्के प्राणीरूप धान्योंको बढ़ाया था, इस तरह जो मेघस्वरूप थे वे अतिशय शूर-वीर महावीर भगवान् श्रेष्ठ आनन्द प्रदान करें ।। २० ।।

अनेकान्तदण्डैः प्रचण्डैरखण्डैः
समुद्दण्डवादिप्रवेतण्डगण्डान् ।
बिभेदाशु यस्य प्रकृष्टः प्रभावः
स वीरः प्रवीरः प्रमोदं प्रदद्यात् ।। २१ ।।

अर्थ—जिनके प्रकृष्ट प्रभावने शक्तिशाली एवं अखण्डित अनेकान्तरूपी दण्डोंके द्वारा बड़े-बड़े वादीरूपी हस्तियोंके गण्डस्थलोंको शीघ्र ही विदीर्ण किया था वे अतिशय शूर-वीर महावीर भगवान् श्रेष्ठ आनन्द प्रदान करें ।। २१ ।।

ततो ध्यानरूपं निशातं सितातं
कृपाणं स्वपाणौ य आदाय सद्यः ।
अघातीनि हत्वा बभूव प्रमुक्तः
स वीरः प्रवीरः प्रमोदं प्रदद्यात् ।। २२ ।।

अर्थ—तदनन्तर ध्यानरूपी तीक्ष्ण अत्यन्त शुक्ल कृपाणको हाथमें लेकर अघातिया कर्मोंका नाशकर जो मुक्त हुए थे वे अत्यन्त शूर-वीर महावीर भगवान् श्रेष्ठ आनन्द प्रदान करें ।। २२ ।।

अथानन्दमानन्दमाद्यन्तहीनं
निजात्मप्रजातं ह्यनक्षं सपक्षम् ।
चिरं यश्च भेजे निजे नैजरूपं
स वीरः प्रवीरः प्रमोदं प्रदद्यात् ।। २३ ।।

अर्थ—मुक्त होनेके बाद जो अनादि, अनन्त, निजात्मासे उत्पन्न, अतीन्द्रिय, आत्मरूप एवं प्रत्यक्ष बहुत भारी आनन्दको प्राप्त हुए थे वे अत्यन्त शूरवीर महावीर भगवान् श्रेष्ठ आनन्दको प्रदान करें ।। २३ ।।

वन्दना आवश्यकमें एक जिनके सिवाय अन्य गुरुजनोंको वन्दनाकी जाती है, यह कहते हैं—

सूरीणां वा गुरूणां वा प्रतिमानां च भक्तितः ।
वन्दना मुनिभिः कार्या यथाविधियथागमम् ।। २४ ।।
पञ्चषट्सप्तहस्तैश्च दूरस्थार्यिका क्रमात् ।
सूरिं बहुश्रुतं साधूनन्यान् वन्देत भक्तितः ।। २५ ।।

अर्थ—आचार्यों, गुरुओं तथा प्रतिमाओंको भी वन्दना मुनियोंको आगमके अनुसार यथाविधि भक्तिपूर्वक करना चाहिये। आर्यिका पांच हाथ दूर बैठकर आचार्यकी, छह हाथ दूर बैठकर उपाध्यायकी और सात हाथ दूर बैठकर अन्य साधुओंको भक्तिपूर्वक वन्दना करे ।। २४-२५ ।।

आगे गुरु वन्दनाके अवसर और विधिका वर्णन करते हैं—

व्याक्षिप्तं वा परावृत्तं निद्रादिनिरतं तथा ।
आहारं वाथ नीहारं कुर्वन्तं संयतं जनम् ।। २६ ।।
न वन्देत मुनिः क्वापि वन्दनायां समुद्यतः ।
प्रतीक्ष्यः समयस्तेन वन्दनायां समर्थितः ।। २७ ।।
आसनस्थोगुरुर्वन्द्यः सम्मुखस्थश्च शान्तहृद् ।
तस्यानुज्ञां समादाय वन्दनां विदधीत सः ।। २८ ।।
आलोचना विधानेषु प्रश्नानां चापि प्रच्छने ।
स्वेनापराधे सञ्जाते पूजास्वाध्याययोस्तथा ।। २९ ।।
वन्दना मुनिभिः कार्या कृतिकर्मपुरस्सरम् ।
प्रतिक्रमे च चत्वारि स्वाध्याये त्रीणि साधुना ।। ३० ।।
कृतिकर्माणि कार्याणि पूर्वाह्णे चापराह्णके ।
यथाविध्येवकार्याणि प्रभवन्ति फलाय हि ।। ३१ ।।

अर्थ—जिस समय संयत जन व्याक्षिप्त—अन्यमनस्क हों विपरीत मुख कर बैठे हों, निद्रामें निरत हों, आहार या नीहार कर रहे हों; उस समय वन्दनामें तत्पर साधु कहीं भी उनको वन्दना न करे किन्तु वन्दनाके योग्य अवसरको प्रतीक्षा करे। जब गुरु आसनपर बैठे हों, सम्मुख हों और शान्त हृदय हों तब उनको आज्ञा लेकर वन्दना करनी चाहिये। अपने द्वारा अपराध हो जानेपर अथवा पूजा और स्वाध्याय के समय मुनियोंको कृतिकर्मके साथ वन्दना करनो चाहिये। प्रति-

क्रमणमें चार और स्वाध्यायमें तीन कृतिकर्म करना चाहिये। ये कृतिकर्म पूर्वाह्ण और अपराह्ण—दोनों समय होते हैं तथा दोनोंके मिल कर चौदह होते हैं। विधिपूर्वक ही किये गये कार्य फल देनेमें समर्थ होते हैं। कृतिकर्मका विशेष स्पष्टीकरण प्रतिक्रमण आवश्यकके वर्णनमें किया जायगा ॥ २६-३१ ॥

आगे स्तुति आवश्यकका कथन करते हैं—

चतुर्विंशति तीर्थेशां धर्मचक्रप्रवर्तिनाम्।
स्तुतिर्या विविधैर्वृत्तैस्तत्स्तुत्यावश्यकं मतम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—धर्मचक्रके प्रवर्तक चौबीस तीर्थङ्करोंकी नाना छन्दों द्वारा स्तुतिकी जाती है, वह स्तुति नामक आवश्यक है ॥ ३२ ॥

विशेष—इस सन्दर्भमें कषायपाहुड प्रथम भाग (पृ० ६१-६२-६३) का शंका समाधान विशिष्ट रुचिकर है—

'चउवीस वि तित्थयरा सावज्जा, छज्जीवविराहणहेउसावयधम्मोवएस कारित्तादो। तं जहा—दाणं पूजा सीलमुववासो चेदि चउव्विहो सावयधम्मो। एसो चउव्विहो वि छज्जीव विराहओ, पयण पायणग्गि संधुक्षण—जालण-सूदि-सूदाणादि वावारेहि जीवविराहणाए विणा दाणाणुववत्तीदो। तरुवरछिंदण-छिंदावणिट्ठपादण-पादावण-तद्दहण दहावणादि वावारेण छज्जीव विराहण हेउणा विणा जिणभवणकरणकरावणण्णहाणुववत्तीदो। ण्हवणोवलेवण-संमज्जण-छुहावण-फुल्लारोवण-धूवदहणादि वावारेहि जीववहाविणाभावीहि विणा पूजकरणाणुववत्तीदो च। कथं सीलरक्खणं सावज्जं? ण, सदारपीडाए विणा सीलपरिपालणाणुववत्तीदो। कथं उववासो सावज्जो? ण, सपोट्टत्थ पाणिपीडाए विणा उववासाणुववत्तीदो। थावरजीवे मोत्तूण तसजीवे चेव मा मारेहु त्ति सावियाण मुवदेसदाणदो वा ण जिणा णिरवज्जा। अणसणोमोदरिय-उत्तिपरिसंखाण-रसपरिच्चाय-विवित्त-सयणासण-रुक्ख मूलादावणब्भोवासुक्कुडासण-पलियंकद्धपलियंक-ठाण-गोणवीरासण-विणय-वेज्जावच्च-सज्झाय-झाणादिकिलेसेसु जीवे पयिसारिय खलियारणादो वा ण जिणा णिरवज्जा तम्हा ते ण वंदणिज्जा त्ति?

एत्थ परिहारो उच्चदे—तं जहा-जइ वि एवमुवदिसंति तित्थयरा तो वि ण तेसिं कम्मबंधो अत्थि, तत्थ मिच्छत्ता संजमकसायपच्चयाभावेण वेयणीयवज्जा सेस कम्माणं बंधाभावादो। वेयणीयस्स विणट्ठिदि अणुभागबंधा अत्थि, तत्थ कसाय पच्चया भावादो। जोगो अत्थि त्ति

ण तत्थ पयडिपदेस बंधाणमत्थित्तं वोत्तु सक्किज्जदे ? ट्ठिदिबंधेण विणा उदयसरूवेण आगच्छमाणाणं पदेसाणमुवयारेण बंधववएसुवदेसादो। ण च जिणेसु देस-सयलधम्मोव देसेण अज्जिय कम्मसंचओ वि अत्थि, उदयसरूव कम्मागमादो असंखेज्जगुणाए सेढीए पुव्वसंचिय कम्म णिज्जरं पडिसमयं करेंतेसु कम्मसंचयाणुववत्तीदो। ण च तित्थयरमण वयण-कायवुत्तीओ इच्छा पुव्वियाओ जेण तेसिं बंधो होज्ज; किंतु दिण-यर-कप्परुक्खा णं पउत्तिओ व्व वयि ससियाओ।

शङ्का—चौबीसों तीर्थङ्कर सावद्य-सदोष हैं क्योंकि वे षट्कायिक जीवोंकी विराधनामें कारणभूत श्रावक धर्मका उपदेश करते हैं। जैसे—दान, पूजा, शील और उपवास—यह चार प्रकारका श्रावकधर्म है। यह चारों प्रकारका श्रावक धर्म षट्कायिक जीवोंका विराधक है। भोजन का स्वयं पकाना, दूसरोंसे पकवाना, अग्निका धोंकना, जलाना, खूंतना तथा खूंतवाना आदि कार्योंसे जीवविराधनाके बिना दान नहीं बनता। इसी प्रकार वृक्षोंका काटना, कटवाना, ईंटोंका गिराना, गिरवाना तथा उनको पकाना पकवाना आदि षट्कायिक जीवोंके विराधनाके कारणभूत व्यापारके बिना जिन भवनका स्वयं बनाना तथा दूसरोंसे बनवाना नहीं हो सकता। अभिषेक, उपलेपन, सम्मार्जन, चन्दन लगाना, फूल चढ़ाना तथा धूप जलाना आदि जीववधके अविनाभावी कार्योंके बिना पूजाका करना नहीं बनता। अच्छा, शीलरक्षा सदोष क्यों है ? ऐसी बात नहीं है क्योंकि स्वस्त्रीको पीड़ा पहुंचाये बिना शीलकी रक्षा नहीं हो सकती। उपवासका करना सदोष क्यों है ? अपने पेटमें स्थित जीवोंको पीड़ा पहुँचाए बिना उपवास नहीं हो सकता। अथवा स्थावर जीवोंको छोड़-कर त्रस जीवोंको मत मारो ऐसा श्राविकाओंके लिये उपदेश देनेसे तीर्थ-ङ्कर सावद्य-सदोष है। अथवा अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्तशय्यासन, वृक्षमूल, आतापन, अभ्रावकाशयोग, उत्कुटासन, पर्यङ्कासन, अर्धपर्यङ्कासन, खड्गासन, गवासन, वीरासन, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय तथा ध्यान आदिसे होनेवाले क्लेशोंमें जीवों-को डालकर उन्हें ठगनेसे जिन निरवद्य नहीं हैं अतः वन्दनीय—स्तुति करने योग्य नहीं हैं।

समाधान—यहां पूर्वोक्त शङ्काका परिहार करते हैं—यद्यपि तीर्थं-कर ऐसा उपदेश देते हैं तो भी उनके कर्मबन्ध नहीं होता। क्योंकि वहाँ मिथ्यात्व, असंयम और कषायरूप प्रत्यय कारणका अभाव होनेसे वेद-

नीयको छोड़ समस्त कर्मोंके बन्धका अभाव है। वेदनीयके भी स्थिति और अनुभागबन्ध नहीं हैं क्योंकि कषायरूप प्रत्ययका अभाव है। योग है, इसलिये प्रकृति प्रदेश बन्धका अस्तित्व है यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्थितिबन्धके बिना उदयरूपसे आनेवाले प्रदेशोंमें उपचारसे ही बन्धका उपदेश है। यह भी कहना ठीक नहीं है कि उनके देश चारित्र और सकल चारित्रका उपदेश देनेसे अर्जित कर्मोंका संचय है, क्योंकि प्रत्येक समय उदयरूपसे जितने कर्म आते हैं उनसे असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा प्रत्येक समय वे करते हैं। इसके सिवाय तीर्थंकरोंके मन-वचन-कायकी प्रवृत्तियाँ भी इच्छापूर्वक नहीं होतीं किन्तु सूर्य और कल्पवृक्षकी प्रवृत्तियोंके समान वैस्रसिक-स्वाभाविक है।

आगे विविध छन्दोंमें वृषभादि तीर्थंकरोंकी स्तुति करते हैं—

येन क्षितावसिमषीप्रभृतीः सुवृत्तीः
संविश्य कापि विहितोपकृतिर्जनानाम्।
कल्पाङ्घ्रिनाशमरणोन्मुखजीवितानां-
मादीश्वरोऽवतु सतां सुखदां श्रियं सः॥ ३३॥

अर्थ—जिन्होंने पृथिवीपर कल्पवृक्षोंके नष्ट होनेसे मरणोन्मुख जीवों-के लिये असि, मषी आदि वृत्तियोंका उपदेश देकर उनका बहुत भारी उपकार किया था, वे आदीश्वर—भगवान् वृषभदेव सत्पुरुषोंको सुख-दायक लक्ष्मीकी रक्षा करें॥ ३३॥

यो नो जितः कर्मकलापकेन जितत्रिलोकीगतजन्तुकेन।
जेतारमीशं रिपुजालकस्याजितं मुदा तं प्रणमामि नित्यम्॥ ३४॥

अर्थ—तीन लोकके समस्त जीवोंको जीतनेवाले कर्मसमूहके द्वारा जो नहीं जीते जा सके उन शत्रुसमूहके विजेता अजितनाथ भगवान्‌को मैं हर्षपूर्वक नित्य ही प्रणाम करता हूं॥ ३४॥

संसारतापविनिपातपयोदरूपं
जन्माब्धिमग्नजनसंतरणं सुरूपम्।
मिथ्यान्धमोहहननाय सहस्ररश्मि
तं शंभवं ह्यमितसंविभवं नमामि॥ ३५॥

अर्थ—जो संसार—पञ्च-परावर्तनरूप संतापको नष्ट करनेके लिये मेघरूप हैं, संसारमें निमग्न जीवोंको तारने वाले हैं, सुरूप—अतिशय सुन्दर हैं, मिथ्यात्वरूपी गाढ़ अन्धकारका नाश करनेके लिये सूर्य हैं

तथा अपरिमित समोचोन वैभवके स्वामी हैं उन शंभवनाथ भगवान्को मैं नमस्कार करता हूं ॥ ३५ ॥

कर्मारिदुःखीकृतमानसान्योऽभिनन्दयामास शिवप्रदानात् ।
भक्त्याभृतोऽहं जगदेकबन्धुं नमामि नित्यं ह्यभिनन्दनं तम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिन्होंने मुक्ति प्रदानकर कर्मरूप शत्रुओंसे दुःखित जोवोंको अभिनन्दित किया था तथा जो जगत्के एक अद्वितोय बन्धु थे उन अभिनन्दन भगवान्को मैं भक्तिपूर्ण हो नित्य ही नमस्कार करता हूं ॥ ३६ ॥

भोगाभुजङ्गा न विवेकवद्भिर्निषेवणीया विषमा यतस्ते ।
एतत् समादेशि हि येन तत्त्वं जिनं सदा तं सुमतिं समीडे ॥ ३७ ॥

अर्थ—विवेकी मनुष्यों द्वारा भोगरूपो भुजङ्ग—नाग सेवनोय नहीं है क्योंकि वे विषम हैं, यह तत्त्व-सारगर्भित बात जिन्होंने कहो थी उन सुमति जिनेन्द्रको मैं सदा स्तुति करता हूँ ॥ ३७ ॥

देहप्रभान्यक्कृतपद्मपत्रं पद्मेशवन्द्यं कमलालयाढ्यम् ।
तं भव्यपद्माकरपद्मबन्धुं पद्मप्रभं सम्प्रणमामि नित्यम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिन्होंने शरीरकी प्रभासे लाल कमलदलको तिरस्कृत कर दिया था, जो लक्ष्मोपति नारायणके द्वारा वन्दनोय थे, स्वयं लक्ष्मोसे सहित थे तथा भव्यजीवरूप कमलवनको विकसित करनेके लिये जो सूर्य थे उन पद्मप्रभ भगवान्को मैं नित्य ही प्रणाम करता हूँ ॥ ३८ ॥

कृपाणं स्वपाणौ समाधिस्वरूपं गृहीत्वा समूलं हृता येन वल्ली ।
जराजन्ममृत्युस्वरूपा विरूपा सुपार्श्वं तमीशं भजे भक्तिभावात् ॥ ३९ ॥

अर्थ—जिन्होंने शुक्लध्यानरूपी कृपाणको अपने हाथमें लेकर जन्म जरामृत्युरूपी कुरूप लताको जड़ सहित काट डाला था उन सुपार्श्वनाथ भगवान्की मैं भक्तिपूर्वक आराधना करता हूं ॥ ३९ ॥

यस्यास्यकान्त्या जितचन्द्रमा स दिने दिने क्षोणतरोभवन् वँ ।
मन्ये ममज्जाब्धिजले सलज्जश्चन्द्रप्रभं तं प्रणमामि नित्यम् ॥ ४० ॥

अर्थ—जिनके मुखकी कान्तिसे पराजित हुआ वह चन्द्रमा प्रतिदिन क्षोण होता हुआ मानों लज्जित होकर ही समुद्रमें मग्न हो गया था, उन चन्द्रप्रभ भगवान्को मैं नित्य ही प्रणाम करता हूँ ॥ ४० ॥

अयि कथं सुविधे वरबोधभाक्
विरलवाक् स्तवनं विदधामि ते ।

सुगुणरत्नगिरेऽमितवाक्पते
भवतु मां धिगिमां च सुरश्रियम् ॥ ४१ ॥
इति मदं विजहौ सुरशासनो गुरुयुतोऽपि यदीयगुणस्तुतौ ।
निरवधिं शुभधिं गुणशेवधिं हतविधिं सुविधिं विनमामि तम् ॥ ४२ ॥
(युग्मम्)

अर्थ—हे सुगुणरूप रत्नोंके गिरि ! हे अपरिमित वचनोंके स्वामी ! हे सुविधिनाथ भगवान् ! अल्पज्ञानी तथा अल्पशब्दोंसे सहित मैं आपकी स्तुति कैसे कर सकता हूँ ? इस प्रकार बृहस्पतिसे सहित होने पर भी इन्द्रने जिनकी स्तुतिमें मद—गर्व छोड़ दिया था उन असीम, कल्याणके धारक, गुणोंके निधि तथा कर्मोंको नष्ट करनेवाले सुविधिनाथ भगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४१-४२ ॥

इष्टानिष्टवियोगप्रयोगसन्तापतप्तजनतानाम् ।
मेघायितं हि येन प्रवन्दनीयः स शीतलः सततम् ॥ ४३ ॥

अर्थ – इष्टवियोग और अनिष्ट संयोगरूप संतापसे संतप्त जनसमूहके लिये जिन्होंने मेघके समान आचरण किया था, वे शीतलनाथ भगवान् सदा वन्दनीय हैं ॥ ४३ ॥

येन स्वयं बोधमयेन लोके प्रकाशितः श्रेष्ठशिवस्य पन्थाः ।
श्रेयः पदप्रापणहेतुभूतं जिनं तमेकादशमानमामि ॥ ४४ ॥

अर्थ—स्वयं ज्ञानमय रहनेवाले जिन्होंने जगत्में मोक्षका मार्ग प्रकाशित किया था तथा जो कल्याणकारी पद—मोक्षकी प्राप्तिमें कारणभूत हैं उन ग्यारहवें भगवान् श्रेयोनाथको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४४ ॥

जयति जनसुवन्द्यश्चिच्चमत्कारनन्द्यः
शमसुखभरकन्दोऽपास्तकर्मारिवृन्दः ।
निखिलगुणगरिष्ठः कीर्तिसत्तावरिष्ठः
सकलसुरपपूज्यो वासुपूज्यो जिनेन्द्रः ॥ ४५ ॥

अर्थ—जो मनुष्योंके द्वारा वन्दनीय हैं, चैतन्य चमत्कारसे नन्दनीय हैं, शान्ति सुख-समूहके कन्द हैं, कर्मरूप शत्रुओंके समूहको नष्ट करनेवाले हैं, समस्त गुणोंसे श्रेष्ठ हैं, कीर्तिके सद्भावसे महान् हैं और समस्त इन्द्रोंसे पूज्य हैं वे वासुपूज्य जिनेन्द्र जयवन्त प्रवर्तते हैं ॥ ४५ ॥

वरबोधविरागशरेण हि यः सकलं शकलीकृतवानहितम् ।
निजकर्ममलं तमहो सततं ह्यमलं विमलं विनमामि मुनिम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—जिन्होंने अपने कर्ममलरूपी समस्त शत्रुको उत्कृष्ट ज्ञान और वैराग्यरूपी बाणके द्वारा खण्ड-खण्ड कर दिया था उन निर्मल-विमलनाथ मुनीन्द्रको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४६ ॥

प्राप्तो न पारो विदुषां समूहैर्यदीयसज्ज्ञानसरस्वतो वै ।
नौम्यर्चनीयं जगतीपतिं तमनाद्यनन्तं जिनपं ह्यनन्तम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—विद्वानोंके समूहोंने जिनके सम्यग्ज्ञानरूपी सागरका पार प्राप्त नहीं कर पाया उन पूजनीय, जगत्के स्वामी तथा (द्रव्यार्थिक नयसे) अनाद्यनन्त अनन्तनाथ जिनेन्द्रको मैं स्तुति करता हूँ ॥ ४७ ॥

संसारसिन्धोर्विनिमग्न जन्तूनुद्धृत्य यो मुक्तिपदे दधार ।
तं धर्मसंज्ञैः सहितं क्षमाद्यैर्नौम्यात्मनीनं मुनिधर्मनाथम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—जिन्होंने संसार-सागरसे डूबे हुए जीवोंको निकालकर मोक्ष-स्थानमें पहुँचाया था तथा जो क्षमा आदि धर्मोंसे सहित थे उन आत्म-हितकारी धर्मनाथ जिनेन्द्रकी मैं स्तुति करता हूँ ॥ ४८ ॥

यस्य पुरस्ताद्रिपुवरनाथा नो स्थिरतां समरे समवापुः ।
चक्रकरं सुखशान्तिकरं तं शान्तिजिनं सततं प्रणतोऽस्मि ॥ ४९ ॥

अर्थ—जिनके आगे युद्धमें बड़े-बड़े शत्रु राजा स्थिरताको प्राप्त नहीं हो सके थे, जिनके हाथमें चक्ररत्न था तथा जो सुख और शान्तिके करनेवाले थे उन शान्ति जिनेन्द्रके प्रति मैं नित्य हो प्रणत—नम्रीभूत हूँ ॥ ४९ ॥

ररक्ष कुन्थुप्रमुखान् सुजीवान् दयाप्रतानेन दयालयो यः ।
स कुन्थुनाथो दयया सनाथः करोतु मां शीघ्रमहो ! सनाथम् ॥ ५० ॥

अर्थ—दयाके आधारस्वरूप जिन्होंने दयाके प्रसारसे कुन्थु आदि जीवोंकी रक्षाकी थी तथा जो दयासे सनाथ—सहित थे वे कुन्थुनाथ भगवान् मुझे सनाथ—अपने स्वामित्वसे सहित करें ॥ ५० ॥

प्रहतं रिपुचक्रमरं सुदृढं वरयोगधरेण हि येन ततम् ।
तमरं भगवन्तमहं सततं विरतं जगतः प्रणमामि हितम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—उत्कृष्टयोग—ध्यानको धारण करनेवाले जिन्होंने सुदृढ़—शक्तिशाली शत्रु समूहको शीघ्र हो नष्ट कर दिया था उन जगत्से विरक्त हितकारी अर जिनेन्द्रको मैं नित्य हो प्रणाम करता हूँ ॥ ५१ ॥

मोहमल्लमदभेदनधीरं कीर्तिगानमुखरीकृतवीरम् ।
धैर्यखड्गविनिपातितमारं तं नमामि वर मल्लिजिनेन्द्रम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—जो मोहरूपी मल्लका गर्व खण्डित करनेमें धीर थे, जिन्होंने अपने कीर्तिगानसे वीरोंको मुखर किया था अर्थात् बड़े-बड़े वीर जिनका कीर्तिगान किया करते थे और जिन्होंने धैर्यरूपी खड्गके द्वारा कामको मार गिराया था उन मल्लि जिनेन्द्रको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ५२ ॥

मन्ता यो वै वेदतत्त्वार्थबोधाद्हिंसादीनां ध्वंसतः सुव्रतश्च ।
तं तीर्थेशं भग्नकर्मारिशीर्षं भक्त्या नम्रः सुव्रतं संनमामि ॥ ५३ ॥

अर्थ—जो आगम प्रतिपादित तत्त्वार्थके जानकार होनेसे मन्ता—मुनि हैं तथा हिंसादि पापोंका नाश करनेसे सुव्रत हैं एवं जिन्होंने कर्मरूपी शत्रुओंके शिरको भग्न कर दिया है उन मुनि सुव्रत तीर्थङ्करको मैं भक्तिसे नम्र हो नमस्कार करता हूँ ॥ ५३ ॥

सकलबोधधरं गुणिनां वरं हितकरं जगतां शमताकरम् ।
स्थिरतया जितमेरुमहीधरं नमिजिनं प्रणमामि निरन्तरम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—जो पूर्ण ज्ञानके धारक थे, गुणी जनोंमें श्रेष्ठ थे, जगत्का हित करनेवाले थे, शान्तिके आकर थे और जिन्होंने स्थिरताके द्वारा मेरु पर्वतको जीत लिया था उन नमिनाथ जिनेन्द्रको में निरन्तर नमस्कार करता हूँ ॥ ५४ ॥

विज्ञानलोकत्रितयं समन्तादनन्तबोधेन बुधाधिनाथम् ।
तं माननीयं मुनिनाथनेमिं नमाम्यहं धर्मरथस्य नेमिम् ॥ ५५ ॥

अर्थ—जिन्होंने अनन्तज्ञान—केवलज्ञानके द्वारा तीनों लोकोंको सब ओरसे जान लिया था, जो ज्ञानीजनोंके स्वामी थे तथा धर्मरूपी रथके नेमि—प्रवर्तक थे उन माननीय नेमिनाथ भगवान्को में नमस्कार करता हूँ ॥ ५५ ॥

येनातिमानः कमठस्य मानो ध्वस्तोऽसमस्थैर्यगुणाणुनैव ।
देहप्रभादीपित पार्श्वदेशं तं पार्श्वनाथं सततं नमामः ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिन्होंने अपने धैर्य गुणके अंशमात्रसे कमठके बहुत भारी मानको नष्टकर दिया था, शरीरकी प्रभासे निकटवर्ती प्रदेशको देदीप्यमान करनेवाले उन पार्श्वनाथ भगवान्को हम नमस्कार करते हैं ॥ ५६ ॥

यं जन्मकल्याणमहोत्सवेषु सुराः समागत्य सुरेशलोकात् ।
क्षीराब्धिनीरैरधिमेरुशृङ्गं समभ्यसिञ्चन् वरभक्तिभावात् ॥ ५७ ॥

तं वर्धमानं भुवि वर्धमानं श्रेयःश्रिया ध्वस्तसमस्तमानम् ।
भक्त्याभृतः सम्मुदितश्च नित्यं नमाम्यहं तीर्थङ्करं समर्च्यम् ।। ५८ ।।
(युग्मम्)

अर्थ—जन्म कल्याणक सम्बन्धी महोत्सवोंमें देवोंने स्वर्गसे आकर मेरु पर्वतकी शिखरपर क्षीर सागरके जलसे जिनका बहुत भारी भक्ति-भावसे अभिषेक किया था, जो पृथिवीमें कल्याणकारी लक्ष्मीसे बढ़ रहे थे और जिन्होंने सबके अभिमानको नष्ट कर दिया था उन पूज्य वर्धमान तीर्थङ्करको मैं भक्तिसे परिपूर्ण तथा हर्षसे युक्त होता हुआ नमस्कार करता हूं ।। ५७-५८ ।।

इति हि विहितां भक्त्या तीर्थकृतां सुखदायिनीं
अमरपतिभिः प्रार्थ्यां स्तोत्रस्रजं पठतीह यः ।
मुदितमनसा नित्यं धीमान् स भव्यशिखामणिः
व्रजति सहसा स्वात्मानन्दं ह्यमन्दतरं सुधीः ।। ५९ ।।

अर्थ—इस प्रकार भक्तिसे निर्मित, सुखदायक और इन्द्रोंके द्वारा प्रार्थनीय तीर्थङ्करोंकी स्तोत्र मालाको जो बुद्धिमान् प्रसन्न चित्तसे निरन्तर पढ़ता है वह उत्तम बुद्धिका धारक, श्रेष्ठ भव्य शीघ्र ही बहुत भारी स्वात्म सुखको प्राप्त होता है ।। ५९ ।।

आगे जिन स्तुतिकी महिमा बतलाते हैं—

रागद्वेषव्यतीतेषु सिद्धार्हत्परमेष्ठिषु ।
सूर्युपाध्यायसङ्घेषु श्रमणेषु महत्सु च ।। ६० ।।
क्षमाप्रभृतिधर्मेषु द्वादशाङ्गश्रुतेषु च ।
यः सम्यग्दृशो रागः स प्रशस्तः समुच्यते ।। ६१ ।।
तेषामभिमुखत्वेन सिद्ध्यन्त्यत्र मनोरथाः ।
एष रागः सरागाणां सुदृशां शिवसाधकः ।। ६२ ।।
अभावान्मोक्षकाङ्क्षाया निदानं नैव मन्यते ।
काङ्क्षणं भाविभोगानां निदानं मुनिभिर्मतम् ।। ६३ ।।

अर्थ—राग-द्वेषसे रहित सिद्ध तथा अरहन्त परमेष्ठियोंमें, आचार्य उपाध्यायके सङ्घोंमें, महामुनियोंमें, क्षमा आदि धर्मोंमें तथा द्वादशाङ्ग श्रुतोंमें सम्यग्दृष्टि जीवका जो राग है वह प्रशस्त राग है । इन सबकी अभिमुखता—भक्तिसे इस जगत्‌में मनोरथ सिद्ध होते हैं । सराग सम्यग्-दृष्टियोंका यह राग परम्परासे मोक्षका साधक है । भोगाकांक्षाका

अभाव होनेसे यह निदान नहीं माना जाता क्योंकि मुनियोंने आगामी भोगाकांक्षाको निदान माना है ॥ ६०-६३ ॥

आगे प्रतिक्रमण आवश्यकका वर्णन करते हैं—

ज्ञातादृष्टस्वभावोऽयमात्मा मोहोदयाद्यदा ।
स्वभावाद्विच्युतो भूत्वा प्रमादापतितो भवेत् ॥ ६४ ॥
तदा स्वभावमास्पृश्य प्रमादाज् ज्ञो निवर्तते ।
तपस्विनः प्रयासोऽसौ प्रतिक्रमणमुच्यते ॥ ६५ ॥
दैवसिकादिभेदेन सप्तधा जायते तु तत् ।
दिवसस्यापराधेषु कृतं दैवसिकं मतम् ॥ ६६ ॥
निशाया अपराधेषु कृतं तन्नैशिकं स्मृतम् ।
पक्षोद्भवापराधेषु विहितं पाक्षिकं भवेत् ॥ ६७ ॥
चतुर्मासापराधेषु चातुर्मासिकमुच्यते ।
संवत्सरापराधेषु साम्वत्सरिकमिष्यते ॥ ६८ ॥
ईर्याया अपराधेषु स्यादीर्यापथिकं तु तत् ।
संन्यासे संस्तरारोहात्पूर्वं गुरुपुरः स्थितैः ॥ ६९ ॥
यावज्जीवापराधानां क्रियते यन्निवेदनम् ।
औत्तमार्थेतिनाम्ना तत् प्रसिद्धं भुवि वर्तते ॥ ७० ॥
सौकर्यायेह साधूनामेकः पाठः प्रदीयते ।
वचसां पाठमात्रेण न भवेच्छुद्धिरात्मनः ॥ ७१ ॥
मनःशुद्धिं विधायैव तत्पाठः कार्यकृद् भवेत् ।
कर्मास्रवनिरोधाय मनसशुद्धिरिष्यते ॥ ७२ ॥

अर्थ—ज्ञाताद्रष्टा स्वभाववाला यह आत्मा जब मोहके उदयसे स्वभावसे च्युत हो प्रमादमें आ पड़ता है तब ज्ञानी पुरुष स्वभावसे सम्बन्ध स्थापित कर प्रमादसे दूर हटता है। तपस्वीका यह प्रयास ही प्रतिक्रमण कहलाता है। दैवसिक आदिके भेदसे यह प्रतिक्रमण सात प्रकारका होता है। दिवस सम्बन्धी अपराधोंमें जो किया जाता है वह दैवसिक प्रतिक्रमण माना गया है। रात्रि सम्बन्धी अपराधोंके विषयमें जो किया जाता है वह नैशिक प्रतिक्रमण माना गया है। पक्षके भीतर होनेवाले अपराधोंके विषयमें जो किया जाता है वह पाक्षिक प्रतिक्रमण है। चार मास सम्बन्धी अपराधोंके विषयमें किया गया चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है। एक वर्षके अपराधोंके विषयमें किया गया साम्वत्सरिक प्रतिक्रमण माना जाता है। ईर्यागमन सम्बन्धी अपराधोंके विषयमें

किया गया **ईर्यापथिक प्रतिक्रमण** है और संन्यासके समय संस्तरपर आरूढ़ होनेके पूर्व गुरु निर्मापकाचार्यके सम्मुख बैठकर जीवन भरके अपराधोंका जो निवेदन किया जाता है वह **औतमार्थ प्रतिक्रमण**, इस नामसे पृथिवीपर प्रसिद्ध है।

साधुओंकी सरलताके लिये एक पाठ दिया जाता है सो वचनोंके पाठ मात्रसे आत्माकी शुद्धि नहीं होती। मनकी शुद्धिके साथ दोषको शुद्धिके लिये उस पाठका पढ़ना कार्यकारी होता है। परमार्थ यह है कि मनकी शुद्धि ही कर्मास्रवके रोकनेमें समर्थ मानी गई है ॥ ६४-७२॥

कालादनन्ताद् भ्रमता समन्ताद्
दुःखातिभारं भरता भवेऽस्मिन्।
सौभाग्यभागोदयतो मयैषा
निर्ग्रन्थमुद्रा सुखदा सुलब्धा ॥ ७३ ॥

अर्थ—अनन्तकालसे सब ओर-चारों गतियोंमें परिभ्रमण करते तथा दुःखके बहुत भार उठाते हुए मैंने इस भवमें सौभाग्यके कुछ उदयसे यह सुखदायक निर्ग्रन्थ मुद्रा प्राप्त की है ॥ ७३ ॥

सर्वज्ञ ! सर्वत्रविरोधशून्य !
चञ्चद्दयासागर ! हे जिनेन्द्र !।
कायेन वाचा मनसा मया यत्
पापं कृतं दत्तजनातितापम् ॥ ७४ ॥
भूत्वा पुरस्ताद् भवतो विनीतः
सर्वं तदेतन्निगदामि नाथ !।
कारुण्यबुद्ध्या सुभृतो भवांश्च
मिथ्यातदंहो विदधातु धातः ॥ ७५ ॥

अर्थ—हे सर्वज्ञ ! हे सर्वत्र विरोध रहित ! हे दयाके सागर ! हे जिनेन्द्र ! मैंने मन, वचन, कायसे मनुष्योंको अत्यन्त संताप देनेवाला जो पाप किया है उस सबको आपके सामने नम्र होकर कहता हूँ। हे नाथ ! आप करुणा बुद्धिसे परिपूर्ण हैं, अतः हे विधाता ! मेरा वह पाप मिथ्या हो ॥ ७४-७५ ॥

क्रोधेन मानेन मदेन माया
भावेन लोभेन मनोभवेन।
मोहेन मात्सर्यकलापकेना-
शर्मप्रदं कर्म कृतं सदा हा ॥ ७६ ॥

अर्थ—दुःख है कि मैंने क्रोधसे, मानसे, मदसे, मायाभावसे, लोभसे, कामसे, मोहसे और मात्सर्य समूहसे सदा दुःखदायक कर्म किया है ॥ ७६ ॥

प्रमादमाद्यन्मनसा मयैते
द्वयेकेन्द्रियाद्या भविनो भ्रमन्तः ।
निपीडिता हन्त विरोधिताश्च
संरोधिताः क्वापि निमीलिताश्च ॥ ७७ ॥

अर्थ—प्रमादसे उन्मत्त हृदय होकर मैंने भ्रमण करते हुए द्वी-इन्द्रिय तथा एकेन्द्रिय आदि जीवोंको विरोधित किया है, कहीं रोका है और निमीलित भी किया है अर्थात् उनके अंगों-उपाङ्गोंको जोर देकर दबाया है॥ ७७ ॥

बाल्ये मया बोधसमुज्झितेन
कुज्ञानचेष्टानिरतेन नूनम् ।
अभक्ष्यसम्भक्षणादिकं हा
पापं विचित्रं रचितं न किं किम् ॥ ७८ ॥

अर्थ—बाल्यावस्थामें ज्ञानरहित तथा कुज्ञानकी चेष्टाओंमें लीन रहनेवाले मैंने अभक्ष्य भक्षण आदि क्या-क्या विचित्र पाप नहीं किया है ॥ ७८ ॥

तारुण्यभावे कमनीयकान्ता-
कण्ठाग्रहाश्लेषसमुद्भवेन ।
स्तोकेन मोदेन विलोभितेन
कृतानि पापानि बहूनि हन्त ॥ ७९ ॥

अर्थ—यौवन अवस्थामें सुन्दर स्त्रियोंके कण्ठालिङ्गनसे उत्पन्न अल्पसुखमें लुभाये हुए मैंने बहुत पाप किये हैं ॥ ७९ ॥

बाला युवानो विधवाश्च भार्या
जरच्छरीराः सरलाः पुमांसः ।
स्वार्थस्य सिद्धौ निरतेन नित्यं
प्रतारिता हन्त मया प्रमोदात् ॥ ८० ॥

अर्थ—स्वार्थसिद्धिमें लगे हुए मैंने बालक, युवा, विधवा स्त्रियों, वृद्ध तथा सीधे पुरुषोंको, खेद है कि बड़े हर्षसे सदा ठगा है ॥ ८० ॥

कृष्यादिकार्येषु सदाभिरक्त

आरम्भ वाणिज्यसमूहसक्तः ।

विवेकवार्तानिचयेन मुक्त-

श्चकार पापं किमहं न चित्रम् ॥ ८१ ॥

अर्थ—खेती आदिके कार्योंमें सदा संलग्न, आरम्भ और व्यापारोंके समूहमें आसक्त तथा विवेक वार्तासे रहित मैंने क्या विचित्र पाप नहीं किया है अर्थात् सभी पाप किया है ॥ ८१ ॥

न्यायालये हन्त विनिर्णयार्थं

गतेन हा हन्त मया प्रमोदात् ।

चित्रोक्तिचातुर्यचितेन चारु-

सत्यस्य कण्ठो मृडितः सदैव ॥ ८२ ॥

अर्थ—यदि मैं निर्णय लेनेके लिये न्यायालयमें गया तो वहाँ मैंने अपने वचनोंकी चतुराईसे सदा सत्यका ही गला घोंटा है ॥ ८२ ॥

व्यापाद्यलोकान् रहसि प्रसुप्तान्

लोभाभिभूतो दयया व्यतीतः ।

जीवस्य जीवोपमवित्तजातं

जहार हा हारिसुहारमुख्यम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—लोभसे आक्रान्त तथा दयासे शून्य होकर मैंने एकान्त स्थानमें सोये हुए मनुष्योंको मारकर जीवोंके प्राणतुल्य सुन्दर हार आदि धन समूहका अपहरण किया है ॥ ८३ ॥

लावण्यलीलाविजितेन्द्रभार्या

भार्याः परेष्यां सहसा विलोक्य ।

वसन्तहेमन्तमुखर्तुमध्ये

कन्दर्पचेष्टाकुलितो बभूव ॥ ८४ ॥

अर्थ—अपनी सुन्दरतासे इन्द्राणियोंको पराजित करनेवाली पर-स्त्रियोंको देखकर मैं वसन्त, हेमन्त आदि ऋतुओंमें कामसम्बन्धी चेष्टाओंसे आकुल हुआ हूँ।' ८४ ॥

लोभानिलोत्कीलितधैर्यकीलः

कार्पण्यपण्यीयनिकेतनाभः ।

सङ्गाभिषङ्गे प्रबिसक्तचित्त-

श्चकार चित्राणि न चेष्टितानि ॥ ८५ ॥

अर्थ—लोभरूपी वायुसे जिसकी धैर्यरूपी कील उखाड़ दी गयी है तथा जो दीनताकी दुकान जैसा बन रहा है ऐसे मैंने परिग्रहमें आसक्त हो कौन-कौन विचित्र चेष्टाएँ नहीं की हैं ? ॥ ८५ ॥

पापेन पापं वचनीयरूपं
मया कृतं यज्जनता प्रभो ! तत् ।
वाचा न वाच्यं मयका कथंचित्
समस्तवेदी तु भवान् विवेद ॥ ८६ ॥

अर्थ—हे जनजनके नाथ ! मुझ पापीने जो निन्दनीय कार्य किया है उसे मैं वचनोंसे नहीं कह सकता। आप सर्वज्ञ हैं अतः सब जानते हैं ॥ ८६ ॥

त्वयाऽञ्जनाद्या विहिता अपापाः
संप्रापिताः सौख्यसुधासमूहम् ।
ममापि तत्पापचयः समस्तो
ध्वस्तः सदा स्याद् भवतः प्रसादात् ॥ ८७ ॥

अर्थ—आपने अंजन चोर आदि पापियोंको पापरहित कर सुखामृतके समूहको प्राप्त कराया है। अतः आपके प्रसादसे मेरे भी समस्त पापोंका समूह नष्ट हो ॥ ८७ ॥

ममास्ति दोषस्य कृतिः स्वभाव
भवत्स्वभावस्तु तदीयनाशः ।
यद् यस्य कार्यं स करोतु तत् तत्
न वार्यते कस्यचन स्वभावः ॥ ८८ ॥

अर्थ—मेरा पाप करना स्वभाव है और आपका उस पापको नष्ट करनेका स्वभाव है। अतः जिसका जो कार्य है वह उसे करे क्योंकि किसीका स्वभाव मिटाया नहीं जा सकता[1] ॥ ८८ ॥

विशेषार्थ—यहाँ मूलाचार और आचार्यवृत्तिके आधारपर 'कृतिकर्म' पर कुछ स्पष्टीकरण किया जाता है।

सामायिक स्तवपूर्वक कायोत्सर्ग करके चतुर्विंशति तीर्थङ्कर स्तव पर्यन्त जो क्रिया है उसे 'कृतिकर्म' कहते हैं। प्रतिक्रमणमें चार और

---

१. यहाँ उत्तमार्थ प्रतिक्रमणको दृष्टिमें रखकर जीवनके समस्त कार्योंको प्रकट किया गया है। वैसे साधु अवस्थामें यह सब अपराध सम्भव नहीं हैं।

स्वाध्यायमें तीन इस प्रकार पूर्वाह्ण सम्बन्धी सात और अपराह्ण सम्बन्धी भी सात इस तरह १४ कृतिकर्म होते हैं। प्रतिक्रमणके चार कृतिकर्म इस प्रकार हैं—आलोचना भक्ति (सिद्धभक्ति) करनेमें कायोत्सर्ग होता है, एक 'कृतिकर्म' यह हुआ। प्रतिक्रमण भक्तिमें एक कायोत्सर्ग होता है, यह दूसरा कृतिकर्म है। वीरभक्तिके करनेमें जो कायोत्सर्ग है वह तीसरा कृतिकर्म है तथा चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति करनेमें शान्तिके लिये जो कायोत्सर्ग होता है वह चौथा कृतिकर्म है।

स्वाध्याय सम्बन्धी तीन कृतिकर्म इस प्रकार हैं—स्वाध्यायके प्रारम्भमें श्रुतभक्तिका जो कायोत्सर्ग होता है वह एक कृतिकर्म है। आचार्य भक्तिकी क्रिया करनेमें जो कायोत्सर्ग होता है वह दूसरा कृतिकर्म है और स्वाध्यायकी समाप्ति होनेपर श्रुतभक्तिके अनन्तर जो कायोत्सर्ग होता है वह तीसरा कृतिकर्म है। यहाँ पूर्वाह्णसे दिवस सम्बन्धी और अपराह्णसे रात्रि सम्बन्धी १४ प्रतिक्रमणोंको लेकर साधुके अहोरात्रि सम्बन्धी २८ कृतिकर्म कहे गये हैं।[१] विशेष विवरण के लिये मूलाचार पृ० ४४१-४४२ (भा० ज्ञा० पीठ संस्करण) द्रष्टव्य है।

आगे प्रत्याख्यान आवश्यकका वर्णन करते हैं—

प्रत्याख्यानमथो वच्मि कर्मक्षयणकारणम्।
त्यागरूपः परीणामो निर्ग्रन्थस्य तपस्विनः ॥ ८९ ॥
प्रत्याख्यानं च तज्ज्ञेयं परमावश्यकं बुधैः।
योऽपराधो मया जातो नेवमग्रे भविष्यति ॥ ९० ॥
एवं विचारसम्पन्नो मुनिर्भावविशुद्धये।
कुर्वन् भुक्त्यादिसंत्यागं प्रत्याख्यानपरो भवेत् ॥ ९१ ॥
अनागतादि भेदेन दशधा तच्छ्रुते मतम्।
विनयादिप्रभेदेन चतुर्धापि समिष्यते ॥ ९२ ॥

अर्थ—अब आगे कर्मक्षयमें कारणभूत प्रत्याख्यान आवश्यकको कहता हूं। निर्ग्रन्थ तपस्वीका जो त्यागरूप परिणाम है उसे ज्ञानीजनोंके प्रत्याख्यान नामका परमावश्यक जानना चाहिये। जो अपराध मुझसे हुआ है वह आगे नहीं होगा, इस प्रकारके विचारसे सहित साधु भावशुद्धिके लिये भुक्ति—आहार आदिका त्याग करता हुआ प्रत्याख्यानमें तत्पर होता है। आगममें वह भुक्तिका त्यागरूप प्रत्याख्यान दश प्रकार

१. मूलाचार गाथा ५६६ और उसकी आचारवृत्ति।

का माना गया है और विनय आदि प्रभेदोंसे चार प्रकारका भी स्वीकृत किया गया है ॥ ८९-९२ ॥

विशेषार्थ—[1]मूलाचारके आधारपर दश भेद निम्न प्रकार हैं—१. अनागत, २. अतिक्रान्त, ३. कोटिसहित, ४. निखण्डित, ५. साकार, ६. अनाकार, ७. परिणामगत, ८. अपरिशेष, ९. अध्वानगत और १०. सहेतुक। आचारवृत्तिके अनुसार इनके संक्षिप्त लक्षण इस प्रकार हैं—

१. **अनागत प्रत्याख्यान**—भविष्यत् कालमें किये जाने वाले उपवास आदिको पहले कर लेना, जैसे चतुर्दशीका उपवास त्रयोदशीको कर लेना, यह अनागत प्रत्याख्यान है।

२. **अतिक्रान्त प्रत्याख्यान**—अतीत कालमें किये जानेवाले उपवास आदिको आगे करना, जैसे चतुर्दशीका उपवास अमावस्या या पूर्णिमा आदिमें करना, यह अतिक्रान्त प्रत्याख्यान है।

३. **कोटिसहित प्रत्याख्यान**—कोटि सहित उपवासको कोटि सहित प्रत्याख्यान कहते हैं, जैसे—प्रातःकाल यदि शक्ति रहेगी तो उपवास करूंगा अन्यथा नहीं।

४. **निखण्डित प्रत्याख्यान**—पाक्षिक आदिमें अवश्य करने योग्य उपवासका करना निखण्डित प्रत्याख्यान है।

५. **साकार प्रत्याख्यान**—भेदसहित उपवास करनेको साकार प्रत्याख्यान कहते हैं, जैसे—सर्वतोभद्र तथा कनकावली आदि व्रतोंकी विधि सम्पन्न करते हुए उपवास करना।

६. **अनाकार प्रत्याख्यान**—तिथि आदिकी अपेक्षाके बिना स्वेच्छासे कभी भी उपवास करना अनाकार प्रत्याख्यान है।

७. **परिमाणगत प्रत्याख्यान**—वेला तेला आदि प्रमाणको लिये हुए उपवास करना परिमाणगत प्रत्याख्यान है।

८. **अपरिशेष प्रत्याख्यान**—जीवनपर्यंन्तके लिये चतुर्विध आहारका त्याग करना अपरिशेष प्रत्याख्यान है।

९. **अध्वानगत प्रत्याख्यान**—मार्ग विषयक प्रत्याख्यानको अध्वानगत प्रत्याख्यान कहते हैं, जैसे—इस जङ्गल और नदी आदिसे बाहर निकलने तक उपवास करना।

१०. **सहेतुक प्रत्याख्यान**—किसी हेतुसे उपवास करना सहेतुक

---

१. गाथा, ६४०।

प्रत्याख्यान है, जैसे—इस उपसर्गसे बचेंगे तो आहार लेंगे, अन्यथा त्याग है।

[1]विनयशुद्ध आदि प्रत्याख्यानके चार भेद निम्न प्रकार हैं—

१. विनयशुद्ध, २. अनुभाषाशुद्ध, ३. अनुपालनाशुद्ध और ४. परिणामशुद्ध।

१. **विनयशुद्ध प्रत्याख्यान**—विनय सम्बन्धी शुद्धिके साथ उपवास करना विनयशुद्ध प्रत्याख्यान है।

२. **अनुभाषाशुद्ध प्रत्याख्यान**—गुरुवचनके अनुरूप वचन बोलना, अक्षर पद आदिका शुद्ध उच्चारण करना अनुभाषाशुद्ध प्रत्याख्यान है।

३. **अनुपालनाशुद्ध प्रत्याख्यान**—आकस्मिक व्याधि अथवा उपसर्ग आदिके समय किया गया प्रत्याख्यान अनुपालना शुद्ध प्रत्याख्यान है।

४. **परिणामशुद्ध प्रत्याख्यान**—राग-द्वेषसे अदूषित परिणामोंसे जो प्रत्याख्यान किया जाता है वह परिणामशुद्ध प्रत्याख्यान है।

प्रतिक्रमणमें और प्रत्याख्यानमें क्या विशेषता है, इसकी चर्चा आचार वृत्तिमें इस प्रकार की है—

"प्रतिक्रमणप्रत्याख्यानयोः को विशेष इतिचेन्नैष दोषोऽतीत् विषयातीचारशोधनं प्रतिक्रमणमतीतभविष्यद्वर्तमानकालविषयातिचारनिर्हरणं प्रत्याख्यानमथवा व्रताद्यतीचारशोधनं प्रतिक्रमणमतीचारकारणसचित्ताचित्तमिश्रद्रव्यविनिवृत्तिस्तपोनिमित्तं प्रासुक द्रव्यस्य च निवृत्तिः प्रत्याख्यानं यस्मादिति।"

अर्थात् भूतकाल सम्बन्धी अतिचारोंका शोधन करना प्रतिक्रमण है और भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानकाल सम्बन्धी अतिचारोंका निराकरण करना प्रत्याख्यान है अथवा व्रतादिके अतिचारोंका शोधन करना प्रतिक्रमण है और अतिचारोंके लिये कारणभूत सचित्त, अचित्त तथा मिश्र द्रव्योंका त्याग करना एवं तपके लिये प्रासुक द्रव्यका भी त्याग करना प्रत्याख्यान है।

भूतकालिकदोषाणां परिहारे पाठ उच्यते।
मनसा गद्गदीभूय पठितव्यो मनीषिभिः॥ ९३॥

अर्थ—भूतकालिक दोषोंका परिहार करनेके लिये पाठ कहा जाता है। ज्ञानीजनोंको मनसे गद्गद होकर वह पाठ पढ़ना चाहिये॥ ९३॥

१. मूलाचार, गाथा ६४१-६४५।

प्रमादतो ये बहवोऽपराधा हिंसाभिमुख्या विहिता मयैते।
ते त्वत्प्रसादाद्विफला भवन्तु भवन्तु, दुःखस्य यतो विनाशाः ॥ ९४ ॥
पापाभिलिप्तेन ह्रियोज्झितेन दयाव्यतीतेन महाशठेन।
हीनेन बुद्धया विहितानि यानि कृत्यानि हा हन्त मया प्रमादात् ॥ ९५ ॥
संवेगवातज्वलितेन तापानलेन तान्यद्य निहन्तुमीहे।
निन्दामि नित्यं मनसा विरुद्धमात्मस्वभावं बहुशो विभो ! हे ॥ ९६ ॥
सुदुर्लभं मर्त्यभवं पवित्रं गोत्रं च धर्मं च महापवित्रम्।
लब्ध्वापि हा मूढतमेन मान्य जीवा वराका निहता मयैते ॥ ९७ ॥
मूत्वेन्द्रियालम्पटमानसेनाज्ञेनेव नूनं निहता समन्तात्।
एकेन्द्रियाद्या भवतः प्रसादात् क्षान्तोभवेदद्य स मेऽपराधः ॥ ९८ ॥
आलोचनायां कुटिलाश्च दोषाः कृता मया ये विपुलाश्च भीमाः।
भवन्तु ते नाम भवत्कृपाभिर्मृषा वृषाराधित पादपद्म ॥ ९९ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! प्रमादसे मेरे द्वारा जो ये अपराध हुए हैं वे आपके प्रसादसे निष्फल हों जिससे मेरे दुःखोंका नाश हो सके। पापसे लिप्त, निर्लज्ज, निर्दय, अत्यन्त शठ और बुद्धिहीन होकर प्रमादसे मेरे द्वारा जो कार्य किये गये हैं आज संवेगरूपी वायुसे प्रज्वलित पश्चात्तापरूपी अग्निसे उन्हें नष्ट करना चाहता हूँ। हे विभो ! मैंने अनेक बार जो आत्म-स्वभावकी विराधनाकी है उसको मैं नित्य ही मनसे निन्दा करता हूँ। अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य पर्याय, पवित्र गोत्र और महापवित्र धर्मको पाकर भी मुझ महामूर्खने इन बेचारे जीवोंको मारा है। इन्द्रियासक्त मनसे युक्त हो मैंने अज्ञानीके समान सब ओरसे जो एकेन्द्रिय आदि जीवोंका घात किया है वह मेरा अपराध आपके प्रसादसे मिथ्या निष्फल हो। हे इन्द्रके द्वारा पूजित चरण-कमलों वाले जिनेन्द्र ! मैंने आलोचनामें जो कुटिल, बहुत और भयंकर दोष किये हैं, आपकी कृपासे वे मिथ्या हों ॥ ९४-९९ ॥

एवमाधुनिका दोषा भविष्यत्काल संभवाः।
प्रत्याख्यानाच्च संशोध्याः मुनिभिर्हितवाञ्छया ॥ १०० ॥

अर्थ—आत्महितके इच्छुक मुनियोंको भूतकाल सम्बन्धी दोषोंके समान वर्तमान और भविष्यत् काल सम्बन्धी दोष भी प्रत्याख्यान नामक आवश्यकसे दूर करने योग्य हैं ॥ १०० ॥

आगे कायोत्सर्ग आवश्यकका वर्णन करते हैं—

कायोत्सर्गमथो वच्मि कर्मक्षपणकारणम्।
मोक्षमार्गोपदेष्टारं घातिकर्मविनाशकम् ॥ १०१ ॥

शरीरे रागहन्तारं सारं च कृतिकर्मणाम् ।
हर्तारं सर्वदोषाणां धर्तारं गुणसम्पदाम् ॥ १०२ ॥

अर्थ—अब मैं उस कायोत्सर्ग आवश्यकको कहता हूँ जो कर्मक्षयका कारण है, मोक्षमार्गका उपदेशक है, घातिया कर्मोंका नाश करनेवाला है, शरीरविषयक रागका घातक है, कृतिकर्मोंमें सारभूत है, सब दोषोंका हरण करनेवाला है और गुणरूपी सम्पदाओंको धारण करनेवाला है ॥ १०१-१०२ ॥

आगे कायोत्सर्ग करनेवाला कैसा होता है, यह कहते हैं—

पादयोरन्तरं दत्त्वा चतुरङ्गुलसंमितम् ।
सुस्थितो लम्बबाहुश्च निश्चलसर्वदेहकः ॥ १०३ ॥
विशुद्धभावना युक्तः सूत्रेऽर्थे च विशारदः ।
मोक्षार्थी जितनिद्रश्च बलवीर्यसमन्वितः ॥ १०४ ॥
चतुर्विधोपसर्गाणां जेता नष्टनिदानकः ।
दोषाणां विनिवृत्यर्थं कायोत्सर्गं समाचरेत् ॥ १०५ ॥

अर्थ—दोनों पैरोंके बीच चार अङ्गुलका अन्तर देकर जो खड़ा हुआ है, जिसकी भुजाएं नीचेकी ओर लटक रही हैं, जिसका सर्वशरीर निश्चल है, जो विशुद्धभावनासे युक्त है, द्रव्यश्रुत और भावश्रुतमें निपुण है, मोक्षका इच्छुक है, निद्राको जीतनेवाला है, बल, वीर्य, शारीरिक और आत्मिक शक्तिसे सहित है, चतुर्विध उपसर्गको जीतनेवाला है और निदान-भोगाकाङ्क्षासे रहित है, ऐसा मुनि दोषोंका निराकरण करनेके लिये कार्योत्सर्ग करता है ॥ १०३-१०५ ॥

अब कायोत्सर्गका जघन्य और उत्कृष्ट काल तथा प्रतिक्रमण सम्बन्धी विभिन्न कायोत्सर्गोंमें श्वासोच्छ्वासोंका परिमाण बतलाते हैं—

एकवर्षावधिः कायोत्सर्ग उत्कृष्ट उच्यते ।
अन्तर्मुहूर्त पर्यन्तो जघन्यश्च निगद्यते ॥ १०६ ॥
अष्टोत्तरशतोच्छ्वासा दिवसीयप्रतिक्रमे ।
चतुःपञ्चाशदुच्छ्वासा ज्ञेया रात्रिप्रतिक्रमे ॥ १०७ ॥
शतत्रयसमुच्छ्वासाः पाक्षिके च प्रतिक्रमे ।
चतुः शती समुच्छ्वासाश्चतुर्मास प्रतिक्रमे ॥ १०८ ॥
पञ्चशतीसमुच्छ्वासाः संवत्सरप्रतिक्रमे ।
हिंसासत्यादिदोषेषु भवत्सु जातुचिन्मुनेः ॥ १०९ ॥

अष्टोत्तरशतोच्छ्वासाः कायोत्सर्गः प्रकीर्तितः।
भोजनपानवेलायां ग्रामान्तरगतौ तथा॥ ११० ॥
अर्हत्कल्याणकस्थाननिषद्यावन्दनेऽपि च।
मलमूत्रनिवृत्तौ च ह्युच्छ्वासाः पञ्चविंशतिः॥ १११ ॥
इष्टग्रन्थस्य प्रारम्भे समाप्त्यवसरे तथा।
स्वाध्यायस्य समारम्भे समाप्तौ च यथाविधि॥ ११२ ॥
वन्दनायां च भावेषु सत्स्वसत्सु च जातुचित्।
सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः कायोत्सर्गः समिष्यते॥ ११३ ॥
एतत्समयपर्यन्तं शरीरे रागवर्जनात्।
आवश्यकः समाख्यातः कायोत्सर्गाभिधानकः॥ ११४ ॥
एककृत्वो नमस्कारमन्त्रस्योच्चारणे त्रयः।
समुच्छ्वासा भवन्त्यत्र साधूनां हि यथाविधि॥ ११५ ॥
केचिद् वीर्यवैशिष्ट्य सहिताः साधुपुङ्गवाः।
व्यन्तरादिकृतान् घोरानुपसर्गान् सुदुःसहान्॥ ११६ ॥
सहन्ते धैर्यसंयुक्ता भीषणे शवशायने।
कुर्वन्ति निर्जरां दुष्टकर्मणां दुःखदायिनाम्॥ ११७ ॥

अर्थ—एक वर्षकी अवधि वाला उत्कृष्ट तथा अन्तर्मुहूर्तकी अवधि-वाला जघन्य कायोत्सर्ग कहलाता है। दैवसिक प्रतिक्रमणमें एकसौ आठ उच्छ्वास, रात्रि प्रतिक्रमणमें चौवन उच्छ्वास और पाक्षिक प्रतिक्रमणमें तोनसौ उच्छ्वास जानना चाहिये। चातुर्मासिक प्रतिक्रमणमें चारसौ और साम्वत्सरिक प्रतिक्रमणमें पाँचसौ उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिये। यदि कदाचित् मुनिके हिंसा असत्यादि दोष हो जावें तो उस समय एकसौ आठ उच्छ्वासका कायोत्सर्ग करना चाहिये। भोजन, पान, आहारके समय, अन्यग्रामके जानेपर, जिनेन्द्र देवके कल्याणकोंके स्थानपर आसन लगाने एवं वन्दना करनेमें और मलमूत्रादि की निवृत्ति करने पर पच्चोस उच्छ्वास, इष्ट ग्रन्थके प्रारम्भ करनेमें, समाप्तिके अवसरमें, स्वाध्यायके प्रारम्भमें, समाप्तिमें, वन्दनामें तथा खोटे भावोंके होनेपर सत्ताईस उच्छ्वासोंका कायोत्सर्ग माना जाता है। अर्थात् इतने समय तक शरीर सम्बन्धो राग छोड़कर कायोत्सर्ग नामका आवश्यक करना चाहिये। विधिपूर्वक एक बार नमस्कार मन्त्र-का उच्चारण करनेमें साधुओंके तीन उच्छ्वास होते हैं॥ १०६-११७॥

भावार्थ—प्रथम उच्छ्वासमें णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं द्वितीय

उच्छ्वासमें **णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाणं** और तृतीय उच्छ्वास में **णमो लोए सव्व साहूणं** बोलना चाहिये।

विशिष्ट वीर्य, आत्मबलसे सहित कितने ही धैर्यशाली मुनिराज, भयंकर श्मशानमें व्यन्तरादिकके द्वारा किये गये बहुत भारी उपसर्गोंको सहन करते हैं तथा दुःखदायक दुष्टकर्मोंकी निर्जरा करते हैं।

आगे कायोत्सर्गके चार भेद कहते हैं—

उत्थितश्चोत्थितः पूर्वं उत्थितश्चोपविष्टकः।
उपविष्टोत्थितो ज्ञेय उपविष्टोपविष्टकः॥ ११८॥
इति ज्ञेयाश्चतुर्भेदाः कायोत्सर्गस्य सूरिभिः।
प्ररूपिता निबोद्धव्याः कर्मनिर्जरणक्षमाः॥ ११९॥

अर्थ—उत्थितोत्थित, उत्थितोपविष्ट, उपविष्टोत्थित और उपविविष्टोपविष्ट, इस प्रकार आचार्योंके द्वारा निरूपित कायोत्सर्गके चार भेद जानना चाहिये। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

१. **उत्थितोत्थित**—जिसमें कायोत्सर्ग करनेवाला खड़ा होकर धर्म्य और शुक्लध्यानका चिन्तन करता है वह उत्थितोत्थित कहलाता है।

२. **उत्थितोपविष्ट**—जिसमें खड़े होकर आर्तरौद्रध्यान किया जाता है वह उत्थितोपविष्ट कहलाता है।

३. **उपविष्टोत्थित**—जिसमें बैठकर धर्म्य और शुक्लध्यान किया जाता है वह उपविष्टोत्थित कहलाता है।

४. **उपविष्टोपविष्ट**—जिसमें बैठकर आर्तरौद्रध्यान किया जाता है वह उपविष्टोपविष्ट कायोत्सर्ग कहलाता है॥ ११८-११९॥

आगे कायोत्सर्ग सम्बन्धी ३२ दोषोंके परिहारका निर्देश करते हैं—

कायोत्सर्गस्य बोधव्या दोषा घोटकादयः।
द्वात्रिंशत्प्रमितास्त्याज्याः कर्मनिर्जरणोद्यतैः॥ १२०॥

अर्थ—कर्मोंकी निर्जरा करनेमें उद्यत साधुओंको कायोत्सर्गके बत्तीस दोष जानकर छोड़ना चाहिये।[१]

अब षडावश्यक अधिकारका समारोप करते हैं—

त्यक्त्वा प्रमादं वपुषि स्थितं ये कुर्वन्ति कार्याणि निरूपितानि।
तेषां न मिथ्या विकथासु पातो भवेत् क्वचित्कर्मनिबन्धहेतुः॥१२१॥

१. इन दोषोंका स्वरूप परिशिष्टमें देखें।

अर्थ—जो मुनि शरीरमें स्थित प्रमादको छोड़कर उपर्युक्त कार्योंको करते हैं उनका कहीं कर्मबन्धमें कारणभूत, मिथ्या विकथाओंमें कभी पतन नहीं होता[1] ॥ १२१ ॥

इस प्रकार सम्यक्चारित्र-चिन्तामणिमें षडावश्यकोंका वर्णन करनेवाला छठवाँ प्रकाश पूर्ण हुआ।

सप्तम प्रकाश

पञ्चाचाराधिकार

मङ्गलाचरण

पञ्चाचारपरायणान् मुनिवरानाचार्यसंज्ञायुतान्
दीक्षादानसमुद्यतान् बुधनुतान् संज्ज्ञानसंभूषितान् ।
वादीभान् प्रविजेतुमुद्यततमान् शास्त्राब्धिपारंगता-
नाचार्यान् परमेष्ठिनः प्रतिदिनं संनौमि शान्त्या युतान् ॥ १ ॥

अर्थ—जो पञ्चाचारके पालन करनेमें तत्पर हैं, मुनियोंमें श्रेष्ठ हैं, आचार्य नामसे सहित हैं, दीक्षा देनेमें समुद्यत हैं, सम्यग्ज्ञानसे सुभूषित हैं, वादीरूपी गजोंको जीतनेके लिये अत्यन्त तत्पर हैं, शास्त्ररूपी सागरके पारगामी हैं और शान्तिसे सहित हैं, उन आचार्य परमेष्ठियोंको मैं प्रतिदिन नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

आगे पञ्चाचारके नाम तथा स्वरूपका निरूपण करते हैं—

पञ्चाचारमथो वक्ष्ये सारान् मुनिवृषस्य हि ।
दर्शनं च तथा ज्ञानं चारित्रं तप एव च ॥ २ ॥
वीर्यं च पञ्चधा सन्ति ह्याचारा जिनभाषिताः ।
आचार्याः पालयन्त्येतान् पालयन्ति परानपि ॥ ३ ॥
एषां स्वरूपमत्राहं वक्ष्यामि क्रमशः पुरः ।
देवशास्त्रगुरूणां च मोक्षमार्गसहायिनाम् ॥ ४ ॥
श्रद्धानं दर्शनं प्रोक्तं मूढत्रयविवर्जितम् ।
ज्ञानाद्यष्टमदातीतं सोपानं शिवसद्मनः ॥ ५ ॥
आद्यं जीवादितत्त्वानां याथार्थ्येन विजृम्भताम् ।
श्रद्धानं दर्शनं ज्ञेयं संशयादिविवर्जितम् ॥ ६ ॥

1. कायोत्सर्ग सम्बन्धी दोषोंका वर्णन परिशिष्टमें देखें।

परद्रव्याद् विभिन्नस्य चेतनालक्ष्मशालिनः।
आत्मनः स्वानुभूतिर्वा सम्यग्दर्शनमुच्यते ॥ ७ ॥
मोहादिसप्तभेदानां प्रकृतीनामभावतः।
सम्यक्त्वगुणपर्यायो योऽत्र प्रकटितो भवेत् ॥ ८ ॥
प्रशस्तं दर्शनं तत्स्यादात्मशुद्धिविधायकम्।
सुलभं भव्यजीवस्य मूलं मोक्षस्य वर्त्मनः॥ ९ ॥
अस्योत्पत्तिक्रमः प्रोक्तः पूर्वं सम्यक्त्ववर्णने।
तस्य स्वरूपनिर्देशो देवादीनां च लक्षणम् ॥ १० ॥
सर्वं चिन्तामणौ प्रोक्तं विस्तारेण यथागमम्।
क्षायिकाद्या मता अस्या त्रयोभेदा जिनागमे ॥ ११ ॥

अर्थ—अब यहाँ आगे मुनिधर्मके सारभूत पञ्चाचारोंका कथन करूँगा। दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार, ये जिनेन्द्र देवके द्वारा कहे हुए पाँच आचार हैं। आचार्य इनका स्वयं पालन करते हैं और दूसरोंको पालन कराते हैं। आगे यहाँ क्रमसे इनका स्वरूप कहूँगा। मोक्षमार्गमें सहायभूत देवशास्त्र गुरूका तोन-मूढ़ताओं तथा ज्ञानादि आठमदोंसे रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन मोक्षमहलकी पहली सोढ़ी है। यह चरणानुयोग की पद्धतिसे सम्यग्दर्शन है। यथार्थतासे सुशोभित जोवादि पदार्थोंका संशयादिसे रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह द्रव्यानुयोगकी पद्धतिसे सम्यग्दर्शनका लक्षण है अथवा परद्रव्यसे भिन्न चेतना लक्षणसे सुशोभित आत्माको जो अनुभूति है वह सम्यग्दर्शन है। यह अध्यात्मको पद्धतिसे सम्यग्दर्शनका लक्षण है अथवा मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियोंके अभाव-उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमसे सम्यक्त्व गुणको जो पर्याय प्रकट होतो है वह सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन आत्मशुद्धिको करने वाला है, भव्यजोवोंको सुलभ है और मोक्षमार्गका मूल है। इसको उत्पत्तिका क्रम पहले सम्यक्त्वके वर्णनमें कहा गया है। सम्यग्दर्शनके स्वरूपका निर्देश तथा देव आदिके लक्षण सम्यक्त्व चिन्तामणिमें विस्तारसे आगमानुसार कहे गये हैं। इस सम्यग्दर्शनके क्षायिक आदि तोन भेद जिनागममें कहे गये हैं ॥ २-११ ॥

आगे सम्यग्दर्शनके आठ अङ्गोंका स्वरूप बताते हुए दर्शनाचारका वर्णन करते हैं—

निःशङ्कत्वादिकं प्रोक्तमङ्गाष्टकममुष्य हि।
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः पदार्था जिनभाषिताः ॥ १२ ॥

यथार्थाः सन्ति नास्त्यत्र संदेहावसरो मनाक् ।
इत्थं श्रद्धानदाढर्यं यत् निःशङ्कत्वं तदुच्यते ।। १३ ।।
भोगोपभोगकाङ्क्षाया अभावो गतकाङ्क्षता ।
मुनीनां मलिनाङ्गादौ मा स्याद् ग्लानेरभावता ।। १४ ।।
सा सिद्धान्तविशेषज्ञैर्मता निर्विचिकित्सता ।
देवे च देवता भासे धर्मे धर्मेतरे तथा ।। १५ ।।
यत्र दृष्टिर्न मूढा स्यात् सा मता मूढदृष्टिता ।
प्रमादाद्देहशैथिल्यात् रोगाद् वार्धक्यतोऽपि वा ।। १६ ।।
जातान् धर्मात्मनां दोषान् दृष्ट्वा तदुपगूहनम् ।
उपगूहननामाढ्यं दृगङ्गं पञ्चमं मतम् ।। १७ ।।
सुधर्माच्च्यवतोमर्त्यान् यस्मात्तस्माच्च कारणात् ।
स्थितीकरणमाबोध्यं पुनस्तत्रैव धारणम् ।। १८ ।।
सधर्मभिः सह स्नेहो गोर्वत्स इव शाश्वतः ।
वात्सल्यं तत्तु विज्ञेयं धर्मस्थैर्यविधायकम् ।। १९ ।।
लोके प्रसरदज्ञानं धर्मस्य विषये महत् ।
दूरीकृत्य प्रभावस्य स्थापनं स्यात्प्रभावना ।। २० ।।
एतैरङ्गैः सुपूर्णं स्यात् सम्यकत्वं सुदृशां सदा ।
भवेदेषु प्रवृत्तिर्या सूरीणां हितकारिणाम् ।। २१ ।।
स बोध्यो दर्शनाचारो यतिधर्मप्रभावकः ।
ज्ञानाचारमथो वच्मि सम्यग्ज्ञानस्य कारणम् ।। २२ ।।

अर्थ—इस सम्यग्दर्शनके निःशङ्कत्व आदि आठ अङ्ग हैं। जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ वास्तविक हैं। इनमें संदेह का थोड़ा भी अवसर नहीं है। श्रद्धानमें इस प्रकारकी जो दृढ़ता है वह **निःशङ्कत्व** अङ्ग कहलाता है। भोगोपभोगकी आकाङ्क्षाका अभाव होना **निःकाङ्क्षित** अङ्ग है। मुनियोंके मलिन शरीर आदिमें जो ग्लानिका अभाव है वह जैनसिद्धान्तके विशेषज्ञ-विद्वानोंके द्वारा **निर्विचिकित्सा** अङ्ग माना गया है। जहाँ देव और देवाभासमें धर्म तथा अधर्ममें दृष्टि मूढ़ नहीं होती है वह **अमूढदृष्टि** अङ्ग है। प्रमादसे, शरीरकी शिथिलतासे, रोगसे, अथवा वृद्धावस्थासे उत्पन्न हुए धर्मात्माओंके दोषोंको देखकर उनका जो गोपन किया जाता है, वह सम्यग्दर्शनका **उपगूहन** नामका पञ्चम अङ्ग है। जिस किसी कारणसे धर्मसे डिगते हुए मनुष्योंको फिरसे उसीमें स्थिर कर देना **स्थितीकरण** अङ्ग है। सहधर्मी जनोंके साथ गोवत्सके समान जो

स्थायी स्नेह है उसे वात्सल्य अङ्ग जानना चाहिये। यह अङ्ग धर्ममें स्थिरता करने वाला है। लोकमें फैलते हुए धर्म विषयक बहुत भारी अज्ञानको दूरकर धर्मका प्रभाव स्थापित करना **प्रभावना अङ्ग** है। सम्यग्दृष्टि जीवोंका सम्यग्दर्शन इन आठ अङ्गोंसे ही पूर्ण होता है। हितकारी आचार्योंकी इन आठ अङ्गोंमें जो प्रवृत्ति है, उसे दर्शनाचार जानना चाहिये। यह दर्शनाचार मुनिधर्मकी प्रभावना बढ़ाने वाला है। अब आगे सम्यग्ज्ञानके कारणभूत ज्ञानाचारका कथन करते हैं॥ १२-२२॥

सम्यक्त्वसहितं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं समुच्यते।
सम्यग्ज्ञानेन जायन्ते जीवाः कर्मक्षयोद्यताः॥ २३॥
स्वपरभेदविज्ञानं मोक्षस्य मुख्यकारणम्।
सम्यग्ज्ञानेन तत्साध्यं तदर्ज्यं साधुभिः सदा॥ २४॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सहित जो ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यग्ज्ञानसे जीव कर्मक्षय करनेमें उद्यत होते हैं। स्वपरभेद विज्ञान मोक्षका मुख्य कारण है, अतः साधुओंको सम्यग्ज्ञानके द्वारा उसे अर्जित करना चाहिये॥ २३-२४॥

आगे सम्यग्ज्ञानके आठ अङ्गों का वर्णन करते हैं—

कालाचारादिभेदेन जिनवाणीविशारदैः।
सम्यग्ज्ञानस्य सूक्तानि ह्यष्टाङ्गानि जिनागमे॥ २५॥
कालशुद्धिर्विधातव्या स्वाध्यायाभिमुखैर्जनैः।
पुरा स एव कालाख्य आचारः परिगीयते॥ २६॥
पूर्वाह्णे ह्यपराह्णे च प्रदोषेऽपररात्रिके।
एषु चतुर्षु कालेषु स्वाध्यायः प्रविधीयते॥ २७॥
एषु यः सन्धिकालोऽस्ति स्वाध्यायस्तत्रवर्जितः।
भूकम्पे भूविदारे वा सूर्येन्दुग्रहणे तथा॥ २८॥
उल्कापाते प्रदोषे च दिग्दाहे देशविप्लवे।
अन्यस्मिन् क्षोभकाले च प्रधानमरणे तथा॥ २९॥
स्वाध्यायो नैव कर्तव्यः परमागमसंहतेः।
स्तोत्रादीनां सुपाठस्तु नो निषिद्धः सुधीवरैः॥ ३०॥
सूत्रं गणधरैः प्रोक्तं श्रुतकेवलिभिस्तथा।
प्रत्येकबुद्धिभिः प्रोक्तमभिन्नदशपूर्वकैः॥ ३१॥

अकाले सूत्रपाठो हि निषिद्धः परमागमे।
कथाग्रन्थादि पाठस्तु नो निषिद्धः कदाचन ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिनवाणीके ज्ञाता विद्वानोंने जिनागममें कालाचार आदिके भेदसे सम्यग्ज्ञानके आठ अङ्ग कहे हैं। स्वाध्यायके लिये उद्यत पुरुषोंको सबसे पहले काल शुद्धि करना चाहिये। कालशुद्धि ही कालाचार कहलाता है। पूर्वाह्ण, अपराह्ण, प्रदोष काल और अपररात्रिक इन चार कालोंमें स्वाध्याय किया जाता है।

भावार्थ—सूर्योदयके दो घड़ी बादसे लेकर मध्याह्नसे दो घड़ी पूर्व तकका काल पूर्वाह्ण कहलाता है। मध्याह्नके दो घड़ी बादसे लेकर सूर्यास्तके दो घड़ी पूर्वतकका काल अपराह्ण कहलाता है। सूर्यास्तके दो घड़ी बादसे लेकर मध्यरात्रिके दो घड़ी पूर्वतकका काल प्रदोष कहलाता है और मध्यरात्रिके दो घड़ी पूर्वसे लेकर सूर्योदयके दो घड़ी पूर्व तकका काल विरात्रि कहलाता है। इन चारों कालोंमें स्वाध्याय करना चाहिये। इनके बीचका जो चार-चार घड़ीका सन्धिकाल है वह स्वाध्यायके लिये वर्जित है।

इसके सिवाय भूकम्प, भूविदारण—पृथ्वीका फटना, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, उल्कापात, प्रदोष—सूर्योदय और सूर्यास्तका समय, दिशादाह—दिशाओंमें लालप्रकाश फैलना, देश विप्लव, क्षोभका अन्य काल और राजा आदिक प्रधान पुरुषका मरण होना, इन समयोंमें परमागम समूहका स्वाध्याय नहीं करना चाहिये। किन्तु विद्वज्जनोंने स्तोत्र आदिके पाठका निषेध नहीं किया है[१]। गणधरों, श्रुतकेवलियों, प्रत्येक बुद्धिधारियों तथा अभिन्न दशपूर्वके पाठी आचार्योंके द्वारा कथित शास्त्र सूत्र कहलाता है। अकालमें सूत्र पाठका निषेध परमागममें बताया गया है परन्तु कथाग्रन्थ आदिके पाठका निषेध नहीं है। तात्पर्य यह है कि क्षोभके समय स्वाध्याय करने वाले एवं स्वाध्याय सुनने वाले पुरुषोंका चित्त स्थिर नहीं रहता। अतः महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका भाव अन्यथा ग्रहण किये जानेकी सम्भावनासे स्वाध्यायका निषेध किया गया है। उपर्युक्त स्वाध्यायके चार कालोंके बीच जो चार-चार घड़ीका अन्तराल है वह सामायिक तथा ध्यानका काल है अतः उस समय स्वाध्यायका निषेध किया गया है ॥ २५-३२ ॥

---

१. सुत्तं गणहर कहियं तदेव पत्तेयबुद्धिकहियं च।
सुदकेवलिणा कहिदं अभिण्णदसपुव्व कहिदं ॥ मूलाचार, २७७

काल शुद्धिके समान द्रव्य क्षेत्र और भाव शुद्धि भी करना चाहिये, यह कहते हैं—

स्वाध्यायावसरे पुम्भिः स्वाध्यायसमुद्यतैः।
मुक्त्वालस्यं मुदा कार्या द्रव्यक्षेत्रादिशुद्धयः॥ ३३॥
शरीरे रुधिरस्रावापूयमांसाद्य निर्गमः।
स्वाध्यायोद्यतसाधोश्च द्रव्यशुद्धिः प्रकथ्यते॥ ३४॥
शतहस्तमिते क्षेत्रे रुधिरापूर्याद्यदर्शनम्।
क्षेत्रशुद्धिः प्रणीतास्ति परमागमपारगैः॥ ३५॥
क्रोधमानादिभावानामभावो भावशुद्धये।
विधातव्यः सदा विज्ञैः स्वाध्यायाय समुद्यतैः॥ ३६॥

अर्थ—स्वाध्यायके लिये उद्यत साधुओंको स्वाध्यायके समय आलस्य छोड़कर द्रव्य और क्षेत्र आदिकी शुद्धियां करनी चाहियें। स्वाध्यायके लिये तत्पर साधुके शरीरसे रुधिर, पोप तथा मांस आदि नहीं निकल रहा हो, यह द्रव्य शुद्धि कही जाती है। सौ हाथ प्रमाण क्षेत्रमें रुधिर तथा पीप आदि नहीं दिख रहा हो, यह क्षेत्र शुद्धि है। परमागमके ज्ञाता पुरुषों द्वारा कही गई है। भाव शुद्धिके अर्थ स्वाध्यायके लिये उद्यत ज्ञानी पुरुषोंको अपने आपमें क्रोध तथा मानादि विकारी भावोंका अभाव करना चाहिये। यही भावशुद्धि है॥ ३३-३६॥

आगे विनयाचारका वर्णन करते हैं—

हस्तौ पादौ च प्रक्षाल्य पर्यङ्कासनसुस्थितः।
शास्त्रस्य मार्जनं कृत्वा कायोत्सर्गं विधाय च॥ ३७॥
चलं मनो वशीकृत्य विनयावनतो भवन्।
ऋषिप्रणीतशास्त्रस्य स्वाध्यायं प्रारभेत सः॥ ३८॥
प्रवृत्तिरेषा साधूनां विनयाचार उच्यते।
विनयाधीतशास्त्रो ना द्रुतं विद्वद्वरो भवेत्॥ ३९॥
स्वाध्यायं विदधत् साधुर्हस्ताभ्यां न पदं स्पृशेत्।
न स्पृशेद् वाङ्छणं कक्षं नखैर्देहं न खर्जयेत्॥ ४०॥

अर्थ—स्वाध्याय करने वाला साधु हाथ पैर धोकर, पर्यङ्कासनसे बैठकर, शास्त्रका परिमार्जन कर, कायोत्सर्ग कर और चञ्चल मनको वशमें कर विनयसे नम्रीभूत होता हुआ ऋषिप्रणीत शास्त्रोंका स्वा-

ध्याय प्रारम्भ करे। साधुओंकी यह सब प्रवृत्ति विनयाचार कहलाती है। विनयसे शास्त्र पढ़ने वाला पुरुष शीघ्र ही श्रेष्ठ विद्वान् हो जाता है। स्वाध्याय करने वाले साधुको स्वाध्यायके समय हाथोंसे पैर, बञ्छण-रँगे तथा कक्ष-बगलका स्पर्श नहीं करना चाहिये और न नखोंसे शरीरको खुजलाना चाहिये ॥ ३७-४० ॥

आगे उपधानाचारका वर्णन करते हैं—

स्वाध्यायगतशास्त्रस्य यावत्पूर्तिर्नजायते।
तावन्निर्विकृतिं भुङ्क्ष्ये नैव भुङ्क्ष्ये फलादिकम् ॥ ४१ ॥
एवं साधोः प्रतिज्ञा या ह्युपधानं तदुच्यते।
यद्वा चित्तं स्थिरीकृत्य निराकृत्याक्षविप्लवम् ॥ ४२ ॥
स्वाध्यायः क्रियते पुम्भिरुपधानं तदुच्यते।
एष उपधानाचारो विज्ञातव्यो मनीषिभिः ॥ ४३ ॥

अर्थ—स्वाध्यायमें स्थापित शास्त्रकी जबतक समाप्ति नहीं हो जाती हैं तबतक मैं निर्विकृति-रसहीन भोजन करूंगा अथवा फलादिक नहीं खाऊंगा, साधुकी यह जो प्रतिज्ञा है वह उपधानाचार कहलाती है अथवा चित्तको स्थिरकर और इन्द्रियोंकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिको रोककर पुरुषों द्वारा जो स्वाध्याय किया जाता है उसे विद्वज्जनोंको उपधानाचार जानना चाहिये ॥ ४१-४३ ॥

अब बहुमानाचारका कथन करते हैं—

स्वाध्यायं विदधत् साधुरितरेषां तपस्विनाम्।
अनादरं न कुर्वीत न गर्विष्ठः स्वयं भवेत् ॥ ४४ ॥
जिनवाक्यमिदं श्रोतुं जातः पुण्योदयो मम।
वीतरागस्य वाणीयं भवाब्धौ पततो मम ॥ ४५ ॥
सत्यं सुदृढनौकास्ति जन्मव्याधियुतस्य मे।
परमौषधरूपा हि लब्धा काठिन्यतो मया ॥ ४६ ॥
श्रोतव्यं बहु मानेनाध्येतव्यं च प्रमोदतः।
सर्वथा दुर्लभं ज्ञेयं जिनवाक्यरसामृतम् ॥ ४७ ॥
इत्येवं बहुमानेन स्वाध्यायं विदधाति यः।
कृत्तकर्मकलापोऽसौ साक्षाद् भवति केवली ॥ ४८ ॥
एवं विदधतः शास्त्र-स्वाध्यायं हि तपस्विनः।
प्रयासो बहुमानाख्य आचारः परिकीर्त्यते ॥ ४९ ॥

अर्थ—स्वाध्याय करने वाला साधु अन्य तपस्वियोंका अनादर नहीं

करे और न स्वयं गर्वयुक्त हो। इस जिनवाक्य जिनशास्त्रको सुननेके लिये मेरा बहुत पुण्योदय हुआ है। वीतरागकी यह वाणी संसार सागरमें पड़ते हुए तथा जन्मकी पीड़ा सहित मेरे लिये सचमुच हो सुदृढ़ नौका है। परम औषधरूप यह वाणी मैंने बड़ी कठिनाईसे प्राप्तकी है। अतः बहुत सम्मानसे इसे सुनना चाहिये तथा हर्षपूर्वक पढ़ना चाहिए। यह जिन वाणीरूपी रसामृत सर्वथा दुर्लभ है। ऐसा जानकर जो बहुमान-आदरसे स्वाध्याय करता है, वह कर्मसमूहको नष्टकर साक्षात् केवली होता है। इस प्रकार स्वाध्याय करनेवाले साधुका जो प्रयास है वह बहुमानाचार कहलाता है॥ ४४-४६॥

अब अनिह्नवाचारका वर्णन करते हैं—

शास्त्रज्ञानादिना जाते महत्त्वे स्वस्य भूयसि।
स्वीयहीनकुलत्वादि-गोपनं विदधीत नो॥ ५०॥
न हि शास्त्रस्य विज्ञस्य स्वस्मात्स्वल्पतरस्य हि।
नामस्मरणसंत्यागो विधेयः स्वाभिमानतः॥ ५१॥
एषत्वनिह्नवाचारो गदितः परमागमे।
निह्नवे सति ज्ञानादिगुणलोपो भवेदितः॥ ५२॥

अर्थ—शास्त्रज्ञान आदिके द्वारा बहुत महत्व बढ़ जानेपर अपने हीन कुल आदिका गोपन नहीं करना चाहिये। शास्त्रका अथवा अपनेसे लघु अन्य विद्वान्का स्वाभिमानसे नाम स्मरणका त्याग नहीं करना चाहिये। भाव यह है कि प्रारम्भमें किसी लघु शास्त्रसे ज्ञान प्राप्त किया हो अथवा लघु-छोटे विद्वान्से अध्ययन किया हो पश्चात् स्वयंके बहुत ज्ञानी हो जानेपर उस लघुशास्त्र अथवा लघु विद्वान्का अभिमानवश नाम नहीं छिपाना चाहिये। यह परमागममें अनिह्नवाचार कहा है। निह्नवके होनेपर ज्ञानादि गुणोंका लोप होता है अर्थात् निह्नव करनेसे ज्ञानावरण कर्मका बन्ध होता है और उसका उदय आनेपर ज्ञानादि गुणोंका ह्रास होता है॥ ५०-५२॥

आगे व्यञ्जनाचार कहते हैं—

शब्दस्योच्चारणं शुद्धं व्यञ्जनाचार उच्यते।
अशुद्धोच्चारणान्नूनं वक्तुर्भवति हीनता॥ ५३॥

अर्थ—शब्दका शुद्ध उच्चारण करना व्यञ्जनाचार कहलाता है क्योंकि अशुद्ध उच्चारणसे वक्ताकी हीनता सिद्ध होती है॥ ५३॥

भावार्थ—श स और व ब के उच्चारणमें अधिकांश अशुद्धता होती है और उच्चारणकी अशुद्धतासे अर्थमें भी विपरीतता आ जाती है। जैसे—सकृत्‌का अर्थ एकबार है और शकृतका अर्थ विष्टा है। सकलका अर्थ सम्पूर्ण है और शकलका अर्थ एक खण्ड है। वाल का अर्थ केश है और बाल का अर्थ बालक या अज्ञानी है। श का उच्चारण तालुसे होता है और स का उच्चारण दाँतोंसे होता है, अतः उच्चारण करते समय जिह्वाका स्पर्श तत् तत् स्थानोंपर करना चाहिये।

अब अर्थाचारका स्वरूप कहते हैं—

यद् व्यञ्जनस्य यो ह्यर्थः संगतो विद्यते भुवि।
तस्यैवाधारणा कार्या ह्यर्थाचारः स उच्यते॥ ५४॥

अर्थ—जिस शब्दका जो अर्थ लोकमें संगत होता है उसीकी अवधारणा करना अर्थाचार कहलाता है॥ ५४॥

भावार्थ—कहींपर विपरीत लक्षणका प्रयोग होनेसे विधिरूप कथनका निषेधपरक अर्थ किया जाता है। जैसे किसीके अपकारसे खिन्न होकर कोई कहता है कि आपने बड़ा उपकार किया, आपने अपनी सज्जनताको विस्तृत किया, आप ऐसा करते हुए सैकड़ों वर्षोंतक जीवित रहें[1]। यहाँ विपरीत लक्षणाका प्रयोग होनेसे विधिपरक अर्थ न लेकर निषेधपरक अर्थ लिया गया है अथवा 'नरक जाना है तो पाप करो' यहां पाप करो इस विधि वाक्यका अर्थ निषेधपरक है। पाप करोगे तो नरक जाना पड़ेगा इसलिये पाप मत करो।

आगे उभयाचारकी चर्चा करते हैं—

वाक्शुद्धेरर्थ शुद्धेश्च युगपद् धारणा तु या।
उभयोः शुद्धिराख्याता सा शास्त्रधुरंधरैः॥ ५५॥
ज्ञानाचारस्य सम्भेदा अष्टौ प्रोक्ताः समासतः।
इतोऽग्रे वर्ण्य आचारश्चारित्राचारसंज्ञितः॥ ५६॥

अर्थ—वाक्शुद्धि-व्यञ्जनशुद्धि और अर्थ शुद्धि दोनोंकी एक साथ धारणा करना उभयशुद्धि कही गई है अर्थात् शब्दका शुद्ध उच्चारण और शुद्ध अर्थके एक साथ अवधारण करनेको शास्त्रके श्रेष्ठ ज्ञाता उभयशुद्धि

---

१. उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परा।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्॥
साहित्यदर्पण

कहते हैं। इस तरह ज्ञानाचारके आठ भेद संक्षेपसे कहे। अब आगे चारित्राचार वर्णन करनेके योग्य है ॥ ५५-५६ ॥

अब चारित्राचारका कथन करते हैं—

अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।
महाव्रतानि पञ्चैव कथितानि जिनागमे ॥ ५७ ॥
ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपणव्युत्सर्गकाः।
प्रसिद्धं व्रतरक्षार्थं समितीनां हि पञ्चकम् ॥ ५८ ॥
कायगुप्तिर्वचोगुप्तिर्मनोगुप्तिश्च भावतः।
एतद् गुप्तित्रयं प्रोक्तं चरणागमविश्रुतम् ॥ ५९ ॥
एषामाचरणं ज्ञेयं चारित्राचारसंज्ञितम्।
एतत्स्वरूपसंख्यानं पूर्वं विस्तरतः कृतम् ॥ ६० ॥

अर्थ—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, जिनागममें ये पाँच ही महाव्रत कहे गये हैं। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और व्युत्सर्ग ये व्रतोंकी रक्षा करने वाली पाँच समितियाँ प्रसिद्ध हैं। कायगुप्ति, वचनगुप्ति और भावपूर्वक की गई मनोगुप्ति ये तीनगुप्तियाँ चरणानुयोगमें प्रसिद्ध हैं। पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीनगुप्ति इन तेरहका आचरण करना चारित्राचार है। इन सबका स्वरूप पहले विस्तारसे कहा जा चुका है ॥ ५७-६० ॥

अब आगे तप आचारका वर्णन करते हुए बाह्य तपोंका वर्णन करते हैं—

इतोऽग्रे वर्णयिष्यामि तपआचारसंज्ञितम्।
आचारं मुनिनाथानां घोरारण्यनिवासिनाम् ॥ ६१ ॥
इच्छाया विनिरोधोऽस्ति तपः सामान्यलक्षणम्।
बाह्याभ्यन्तरभेदेन तत्तपो द्विविधं स्मृतम् ॥ ६२ ॥
उपवासोऽवमौदर्यं वृत्तोपरिसंख्यानकम्।
परित्यागो रसानां च विविक्तशयनासनम् ॥ ६३ ॥
कायक्लेशश्च संप्रोक्ता बाह्यानां तपसां भिदाः।
अन्नं पानं तथा खाद्यं लेह्यं चेति चतुर्विधः ॥ ६४ ॥
आहारो विद्यते पुंसां प्राणस्थिति विधायकः।
एतच्चतुर्विधाहारत्यागो ह्युपवासो मतः ॥ ६५ ॥
तुर्यषष्ठाष्टमादीनां भेदेन बहुभेदवान्।
एकद्वित्रादि ग्रासानां क्रमशो हानितो मतः ॥ ६६ ॥

अवमौदर्यनामा स तपोभेदः समुच्यते ।
एकं गृहं गमिष्यामि द्वित्रान् वा पङ्क्तिशः स्थितान् ॥ ६७ ॥
आयतं वर्तुलाकारं वर्त्मेति नियमो मतः ।
वृत्तिसंख्यानमामा च तपसां भेद उच्यते ॥ ६८ ॥
घृतदुग्धगुडादीनां रसानां परिवर्जनात् ।
रसत्यागाभिधानोऽयं तपोभेदः प्रगीयते ॥ ६९ ॥
विविक्ते यत्र जायेते शयनासनके मुनेः ।
तपोभेदः स विज्ञेयो विविक्तशयनासनम् ॥ ७० ॥
अभ्रावकाश आतापो वर्षायोगश्च सावधिः ।
कायक्लेशस्तपः प्रोक्तं कर्मनिर्जरणक्षमम् ॥ ७१ ॥
एषां विधिर्बहिर्दृश्यो बाह्यैश्चापि विधीयते ।
अतो बाह्याः समुच्यन्ते ता एतास्तपसो भिदाः ॥ ७२ ॥

अर्थ—यहाँ से आगे भयंकर वनोंमें निवास करनेवाले मुनिराजोंके तप-आचारका वर्णन करूँगा। इच्छाका निरोध करना तपका सामान्य लक्षण है। बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे वह तप दो प्रकारका स्मरण किया गया है। उपवास, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त-शय्यासन और कायक्लेश, ये छह बाह्य तपके भेद कहे गये हैं। अन्न, पान, खाद्य और लेह्य यह चार प्रकारका आहार पुरुषोंको शरीरस्थितिका कारण है। इन चारों प्रकारके आहारोंका त्याग करना उपवास नामका तप माना गया है। यह तुर्य—एक, षष्ठ—वेला और अष्टम—तेला आदिके भेदसे अनेक भेदों वाला है। क्रमसे एक, दो, तीन आदि ग्रासोंके घटानेसे अवमौदर्य नामका तप कहा जाता है।[1] आज आहारके लिये एक घर तक जाऊँगा अथवा एक पंक्तिमें स्थित दो-तीन घर तक जाऊँगा, लम्बे रास्तोंमें जाऊँगा या गोल मार्गमें जाऊँगा। इस प्रकारका नियम लेकर तदनुरूप प्रवृत्ति करना वृत्तिपरिसंख्यान तपका भेद है। घी, दूध तथा गुड़ आदि रसोंका त्याग करना रस-परित्याग नामक तप है। मुनिका जो एकान्त-निर्जन स्थानमें शयनासन होता है वह विविक्त-शयनासन तप है। अभ्रावकाश—छाया रहित स्थानमें रहना, आतापन योग तथा वर्षायोग धारण करना कायक्लेश

1. शुक्लपक्षमें एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए और कृष्णपक्षमें एक-एक ग्रास घटाते हुए आहार करना कवल चन्द्रायण व्रत होता है। यह व्रत अवमौदर्य तपके अन्तर्गत होता है।

तप है। यह तप समयकी अवधि लेकर किया जाता है तथा कर्मक्षय करनेमें समर्थ है। इनकी विधि बाह्यमें दिखाई देती है तथा कहीं पर बाह्य अन्य लोगोंके द्वारा भी किये जाते हैं। इसलिये ये उपवासादि, बाह्य तप कहे जाते हैं॥ ६१-७२॥

आगे आभ्यन्तर तपोंका वर्णन करते हुए प्रायश्चित्त तपका कथन करते हैं—

अतोऽन्तस्तपसां भेदा वर्ण्यन्ते यथागमम्।
प्रायश्चित्तादिभेदेन तेऽपि षोढा निरूपिताः॥ ७३॥
कृतापराधशुद्धयर्थं यत्तपः प्रविधीयते।
गुरोराज्ञां पुरोधाय प्रायश्चित्तं हि तन्मतम्॥ ७४॥
आलोचनादिभेदेन नवधा तदपि भिद्यते।
गुरोरग्रे विनीतेन साधुना निश्छलतया॥ ७५॥
प्रोक्ता ह्यालोचना प्राज्ञैः स्वकीयागो निवेदनम्।
स्वतः स्वस्यापराधानां यन्मिथ्याकरणक्रिया॥ ७६॥
प्रतिक्रमः स विज्ञेयः स्थितिबन्धापसारकः।
एतद्द्वयं विधीयेत यस्मिंस्तदुभयं मतम्॥ ७७॥
कृत्वावधिं मुनेः सङ्घात् या पृथक्करणक्रिया।
विवेको नाम तज्ज्ञेयं प्रायश्चित्तं मनीषिभिः॥ ७८॥
कृत्वा कालावधिं साधोर्या कायोत्सर्जनक्रिया।
व्युत्सर्गः स च विज्ञेयो निशायां निर्जनस्थले॥ ७९॥
अङ्गीकृत्य गुरोराज्ञामुपवासो विधीयते।
प्रायश्चित्तधिया यस्मिंस्तत्तपः परिगीयते॥ ८०॥
अपराधस्य वैषम्यं दृष्ट्वा यत्र विधीयते।
सागसः साधुवर्गस्य दीक्षाछेदो हि सूरिणा॥ ८१॥
छेदाभिधानं तज्ज्ञेयं प्रायश्चित्तं तपस्विभिः।
सापराधो मुनिर्यत्र सङ्घान् निःसार्यते क्वचित्॥ ८२॥
परिहाराभिधानं तत् प्रायश्चित्तं निगद्यते।
घोरापराधं संदृश्य पुनर्दीक्षा विधीयते॥ ८३॥
सागसः सूरिवर्येण यस्मिंस्तदुपस्थापनम्।
प्रायश्चित्तमिदं ज्ञात्वा भेतव्यमपराधतः॥ ८४॥

अर्थ—अब इसके आगे आगमके अनुसार आभ्यन्तर तपोंके भेद कहे जाते हैं। वे आभ्यन्तर तप प्रायश्चित्त आदिके भेदसे छह प्रकार-

के कहे गये हैं। कृत अपराधकी शुद्धिके लिये गुरुकी आज्ञानुसार जो तप किया जाता है वह **प्रायश्चित्त** तप माना गया है। यह प्रायश्चित्त भी आलोचना आदिके भेदसे नौ प्रकारका होता है। अपराधी साधु निश्छल भावसे गुरुके आगे जो अपने अपराधका निवेदन करता है उसे विद्वज्जनोंने **आलोचना** कहा है। स्वयं ही अपने अपराधोंका जो मिथ्याकरण करना है उसे **प्रतिक्रमण** जानना चाहिये। यह प्रतिक्रमण पूर्व बद्ध कर्मोंकी स्थितिको कम कर देने वाला है। तात्पर्य यह है कि आलोचना गुरुके सम्मुख होती है और प्रतिक्रमण गुरुके बिना ही कृत अपराधोंके प्रति पश्चात्ताप करते हुए परोक्ष प्रार्थनाके रूपमें 'मेरा अपराध मिथ्या हो' ऐसा कथन करने रूप है। जिसमें आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों किये जाते हैं वह **तदुभय** नामका प्रायश्चित्त है। भाव यह है कि कुछ अपराधोंकी शुद्धि प्रतिक्रमण मात्रसे हो जाती है, कुछ अपराधोंकी शुद्धि आलोचनासे होती है और कुछ अपराधोंकी शुद्धिके लिये दोनों करने पड़ते हैं। अवधि—समयकी सीमा निश्चित कर अपराधी साधुको जो सङ्घसे पृथक् किया जाता है अर्थात् अलग बैठाया जाता है, चर्या आदि भी पृथक् करायी जाती है वह **विवेक** नामका प्रायश्चित्त है। समयकी अवधिकर रात्रिमें निर्जन स्थानमें अपराधी साधुको जो कायोत्सर्ग करना होता है वह **व्युत्सर्ग** नामका प्रायश्चित्त है। जैसे—रक्षाबन्धन कथामें मन्त्रियोंसे शास्त्रार्थ करनेवाले श्रुत सागरमुनिको शास्त्रार्थके स्थलपर रात्रिमें कायोत्सर्ग करनेका आदेश दिया गया था और उन्होंने उसका पालन किया था। जिसमें प्रायश्चित्तकी बुद्धिसे गुरुकी आज्ञाको स्वीकृतकर उपवास आदि किया जाता है वह **तप** नामका प्रायश्चित्त कहा जाता है। जिसमें अपराधकी विषमता देख गुरु द्वारा अपराधी साधुकी दीक्षा कम कर दी जाती है वह **छेद** नामका प्रायश्चित्त जानने योग्य है[1]। जिसमें अपराधी साधुको सङ्घसे अलग कर दिया जाता है वह **परिहार** नामका प्रायश्चित्त है और जिसमें घोर—भारी अपराधको देखकर आचार्य द्वारा अपराधी साधुको पुनः दीक्षा दी जाती है वह **उपस्थापन** नामका प्रायश्चित्त है। पुनः दीक्षित साधु नवदीक्षित माना जाता है। इसे संघके

१. मुनियोंकी आचार-संहितासे नवीन दीक्षित साधु पूर्व दीक्षित साधुको नमस्कार करते हैं। यदि किसी अपराधी साधुकी दीक्षाके दिन कम कर दिये जाते हैं तो उसे उन साधुओंको नमस्कार करना पड़ता है जो पहले इसे नमस्कार करते थे।

सब साधुओंको नमोऽस्तु करना पड़ता है। इस प्रायश्चित्तको जानकर अपराधसे भयभीत रहना चाहिये ॥ ७३-८४ ॥

आगे विनयतपका वर्णन करते हैं—

गुरुक्रमाब्जयोरग्रे स्वस्य या नमनक्रिया।
साधोर्निगृह्य मानित्वं स एष विनयो मतः ॥ ८५ ॥
ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारणं प्रभेदतः।
विनयस्यापि चत्वारो भेदाः शास्त्रे प्ररूपिताः ॥ ८६ ॥
क्वचिच्च तपसा सार्धं पञ्चभेदाः प्ररूपिताः।
विनयो मोक्षसौधस्य प्रवेशद्वारमुच्यते ॥ ८७ ॥
विनयात्तीर्थकृत्त्वस्य प्राप्तिर्भवति योगिनः।
विनयेन प्रहीणस्य सर्वा शिक्षा निरर्थिका ॥ ८८ ॥

अर्थ—अपने मानको रोककर गुरुके चरण कमलोंके आगे साधुका जो नम्रीभूत होना है वह विनय है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचारके भेदसे विनय तपके भी चार भेद शास्त्रमें बताये गये हैं। कहीं मूलाचार आदिमें तपके साथ पाँच भेद भी कहे हैं अर्थात् दर्शन-विनय, ज्ञान-विनय, चारित्र-विनय, तपो-विनय और उपचार-विनय। विनय, मोक्ष-महलका प्रवेशद्वार कहा जाता है। विनयसे तीर्थङ्कर पदकी प्राप्ति होती है। विनयसे रहित व्यक्तिकी सब शिक्षा निरर्थक है ॥ ८५-८८ ॥

अब वैयावृत्य तपका लक्षण कहते हैं—

आयाते संकटे साधौ भक्त्या तन्निवारणम्।
शुश्रूषाप्रियवाक्पूर्वं वैयावृत्यं निगद्यते ॥ ८९ ॥
आचार्यादिप्रभेदेन वैयावृत्यं तपः पुनः।
भिद्यते दशधा लोके चारित्रस्थैर्यकारणम् ॥ ९० ॥

अर्थ—साधुपर संकट आनेपर भक्तिपूर्वक संकटका निवारण करना और प्रियवचन बोलते हुए उनकी सेवा करना वैयावृत्य कहलाता है। वैयावृत्य तप आचार्य आदि पात्रोंके भेदसे लोकमें दश प्रकारका होता है। यह वैयावृत्य चारित्रकी स्थिरताका कारण है ॥ ८९-९० ॥

भावार्थ—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, सङ्घ और साधुके भेदसे साधुओंके दश भेद होते हैं। इनकी सेवा करने से वैयावृत्य दश प्रकारका होता है।

आगे स्वाध्याय तपका वर्णन करते हैं—

स्वस्वभावस्य सिद्ध्यर्थं स्वाध्यायः साधुभिः सदा।
कर्तव्यश्च स्थिरं कृत्वा चलं चित्तं प्रमोदतः॥ ९१॥
यत्र शास्त्राध्ययनेन स्वस्यैवाध्ययनं भवेत्।
स्वाध्यायः स च विज्ञेयः स्वाध्यायः परमं तपः॥ ९२॥
वाचनाप्रच्छना चाप्यनुप्रेक्षाम्नायको तथा।
धर्मोपदेशश्चेत्येताः स्वाध्यायस्य भिदा मताः॥ ९३॥
निरवद्यार्थयुक्तस्य पाठो भवति वाचना।
संशयस्य निराकृत्यै ज्ञातस्य दृढताकृते॥ ९४॥
विनयात्प्रच्छनं श्रोतुः प्रच्छना किल कथ्यते।
सिद्धान्तश्रुततत्त्वस्य भूयोभूयोऽभिचिन्तनम्॥ ९५॥
स्वाध्यायो नाम विज्ञेयोऽनुप्रेक्षाभिधानकः।
ग्रन्थस्योच्चारणं सम्यगाम्नायः कथितो जिनैः॥ ९६॥
शुद्धैर्मनोहरैर्वाक्यैः श्रोतृकल्याणवाञ्छया।
धर्मस्य देशना या हि सरलीकृतचेतसा॥ ९७॥
धर्मोपदेशनामा स स्वाध्यायः कथितो जिनैः।
स्वाध्यायाच्चपलं चेतः क्षणादेव स्थिरं भवेत्॥ ९८॥
रागद्वेषप्रवाहश्च निरुद्धो भवति क्षणात्।
ततश्च निर्जरा दुष्टकर्मणां जायतेऽचिरात्॥ ९९॥

अर्थ—स्व-स्वभावकी सिद्धिके लिये साधुओंको सदा चित्त स्थिरकर हर्षसे स्वाध्याय करना चाहिये। जहाँ शास्त्राध्ययनसे स्व—ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव वाले आत्म-तत्त्वका अध्ययन होता है, उसे स्वाध्याय जानना चाहिये। ऐसा स्वाध्याय परम तप माना गया है। वाचना, प्रच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश, ये स्वाध्यायके पाँच भेद माने गये हैं। निर्दोष अर्थसे युक्त शास्त्रका पढ़ना वाचना है। संशयका निराकरण करने और ज्ञात तत्त्वको दृढ़ करनेके लिये विनयसे श्रोताका जो पूछना है वह प्रच्छना कहलाती है। आगममें सुने गये तत्त्वका बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा नामका स्वाध्याय जानने योग्य है। ग्रन्थका ठीक-ठीक उच्चारण करना—आवृत्ति करना आम्नाय नामका स्वाध्याय जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है। सरल चित्त वाले वक्ताके द्वारा श्रोताओंके कल्याणकी इच्छासे शुद्ध एवं मनोहर वचनों द्वारा जो धर्म की देशना दी जाती है उसे जिनेन्द्रदेवने धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय कहा है। स्वाध्यायसे चञ्चल चित्त क्षणभरमें स्थिर हो जाता है, राग-

द्वेषका प्रवाह क्षणभरमें रुक जाता है और उससे दुष्ट कर्मोंकी निर्जरा शीघ्र होने लगती है ॥ ९१-९९ ॥

आगे व्युत्सर्ग तपका कथन करते हैं—

बाह्येऽकाभ्यन्तरोपध्योस्त्यागं कृत्वा प्रमोदतः।
कायोत्सर्गीयमुद्राभिः स्थित्वात्मानं विचिन्तयन् ॥ १०० ॥
विविक्ते यः स्थितः साधुस्तपस्येत् तस्य या क्रिया।
व्युत्सर्गः सा हि विज्ञेयं तपो ध्यानस्य साधनम् ॥ १०१ ॥

अर्थ—बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहका त्यागकर कायोत्सर्गकी मुद्रामें स्थित हो आत्माका चिन्तन करता हुआ साधु एकान्तमें जो तपश्चरण करता है उसकी यह क्रिया **व्युत्सर्ग** नामका तप है। यह तप ध्यानका साधन है ॥ १००-१०१ ॥

अब ध्यान नामक तपका वर्णन करते हुए आर्तध्यानका वर्णन करते हैं—

श्रेष्ठसंहननोपेतश्चित्तैकाग्र्येण संयुतः।
कुरुते यत्पदार्थेषु चिन्ताया विनिरोधनम् ॥ १०२ ॥
तद्ध्यानं कथ्यते लोकैर्जैनागमविशारदैः।
आर्तरौद्रादिभेदेन ध्यानं स्यात्तच्चतुर्विधम् ॥ १०३ ॥
आर्तौ दुःखे भवेद्यत्तदार्तं ध्यानं तदुच्यते।
भेदा अस्यापि चत्वारः प्रगीताः परमागमे ॥ १०४ ॥
इष्टस्त्रीसुतवित्तादिवियोगप्रभवं ततः।
अनिष्टाहिमृगेन्द्रादिसंयोगाज्जनितं पुनः ॥ १०५ ॥
श्वासकासादिरोगाणामाक्रमाज्जनितं ततः।
ईप्सितभोगकाङ्क्षायाः प्रभावाज्जनितं पुनः ॥ १०६ ॥

अर्थ—उत्तम—आदिके तीन संहननोंसे सहित तथा चित्तकी एकाग्रतासे युक्त पुरुष जो पदार्थोंमें चिन्ताका निरोध करता है जैनागममें प्रवीण पुरुषों द्वारा वह ध्यान कहा जाता है। आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्लके भेदसे वह ध्यान चार प्रकारका है। आर्ति अर्थात् दुःखके समय जो होता है वह आर्तध्यान कहलाता है। इसके भी परमागममें चार भेद कहे गये हैं। इष्ट, स्त्री, पुत्र तथा धन आदिके वियोगसे होने वाला **इष्टवियोगज** नामका पहला आर्तध्यान है। अनिष्ट सर्प तथा सिंह आदिके संयोगसे होने वाला **अनिष्टसंयोगज** नामका दूसरा आर्तध्यान है। श्वास तथा खांसी आदि रोगोंके आक्रमणसे होने वाला **वेदनाजन्य**

नामका तीसरा आर्तध्यान है और ईप्सित भोगोंकी आकाङ्क्षासे होने वाला निदान नामका चौथा आर्तध्यान है ॥ १०२-१०६ ॥

अब रौद्रध्यानका वर्णन करते हैं—

रुद्रस्य क्रूरभावस्य जातं रौद्रं प्रचक्ष्यते।
भेदा अस्यापि चत्वारो जिनदेवैर्निरूपिता ॥ १०७ ॥
हिंसानन्दो मृषानन्दश्चौर्यानन्दश्च दुःखदः।
विषयानन्द इत्येते चत्वारः सम्प्रकीर्तिताः ॥ १०८ ॥

अर्थ—रुद्र अर्थात् क्रूर परिणाम वालेके जो होता है वह रौद्रध्यान कहलाता है। जिनेन्द्रदेवने इसके भी हिंसानन्द, मृषानन्द, दुःखदायक-चौर्यानन्द और विषयानन्द-परिग्रहानन्द, ये चार भेद कहे हैं। हिंसाके कार्योंमें तल्लीन होकर आनन्द मानना हिंसानन्द है। मृषा—असत्य भाषणमें आनन्द मानना मृषानन्द है। चोरीमें आनन्द मानना चौर्यानन्द है और पञ्चेन्द्रियोंके विषयभूत परिग्रहकी रक्षामें व्यस्त रहते हुए आनन्द मानना विषयानन्द-परिग्रहानन्द है ॥ १०७-१०८ ॥

आगे धर्म्यध्यानका वर्णन करते हैं—

स्याद् धर्मादनपेतं यत् तद् धर्म्यं च निगद्यते।
भेदा अस्यापि चत्वारः सूत्रमध्ये प्ररूपिताः ॥ १०९ ॥
स्यादाज्ञाविचयः पूर्वो ह्यपायविचयस्ततः।
विपाकविचयः पश्चात् संस्थानविचयस्ततः ॥ ११० ॥

अर्थ—धर्मसे सहित ध्यान धर्म्यध्यान कहलाता है। आगममें इसके भी चार भेद कहे गये हैं—पहला आज्ञा-विचय, दूसरा अपाय-विचय, तीसरा विपाक-विचय और चौथा संस्थान-विचय। सूक्ष्म, अन्तरित तथा दूरवर्ती पदार्थोंका आज्ञा मात्रसे चिन्तन करना आज्ञाविचय है। चतुर्गतिके दुःख तथा उससे बचनेके उपायका चिन्तन करना अपाय-विचय है। कर्म प्रकृतियोंके फल, उदय, उदीरणा तथा संक्रमण आदिका विचार करना विपाक-विचय है और लोकके संस्थान-आकार आदिका विचार करना संस्थान-विचय कहलाता है ॥ १०९-११० ॥

आगे शुक्लध्यानका कथन करते हैं—

शुक्लस्य रागकालिम्ना रहितस्य भवेत्तु यत्।
शुक्लध्यानं परं प्रोक्तं प्रधानं मोक्षकारणम् ॥ १११ ॥
एतस्यापि चतुर्भेदाः शास्त्रमध्ये प्रकल्पिताः।
कर्मनिर्जरणोपाया मुनीनामेव सन्ति ते ॥ ११२ ॥

पृथग् वितर्कवीचार एकत्वाद्यवितर्क कः।
सूक्ष्मक्रियोद्भवं नाम तुर्यं व्युपरतक्रियम् ॥ ११३ ॥

अर्थ—रागकी कालिमासे रहित शुक्ल-वीतराग परिणाम वाले मनुष्यके जो ध्यान होता है वह शुक्लध्यान कहा गया है। यह शुक्लध्यान मोक्षका प्रधान कारण है। शुक्लध्यानके भी चार भेद शास्त्रोंमें कहे गये हैं। ये सभी ध्यान कर्म निर्जराके उपाय हैं तथा मुनियोंके ही होते हैं। पहला शुक्लध्यान पृथक्त्व वितर्कवीचार, दूसरा एकत्व वितर्क, तीसरा सूक्ष्म क्रियापत्ति और चौथा व्युपरतक्रिया निवर्ति है[1] ॥ १११-११३ ॥

भावार्थ—जिसमें द्रव्य, पर्याय, शब्द, अर्थ और योगमें परिवर्तन हो वह पृथकत्व वितर्कवीचार नामका पहला शुक्लध्यान है। यह तीनों योगोंके आलम्बनसे होता है। जिसमें द्रव्य, पर्याय आदिका परिवर्तन नहीं होता है वह एकत्व वितर्क नामका दूसरा शुक्लध्यान है। यह तीनमेंसे किसी एक योगके आलम्बनसे होता है। तेरहवें गुणस्थानके अन्तिम अन्तर्मुहूर्तमें जब मात्र काययोगका सूक्ष्म स्पन्दन रह जाता है तब सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति नामका तीसरा शुक्लध्यान होता है और जब सूक्ष्म काययोगका भी स्पन्दन बंद हो जाता है पूर्वरूपसे योग रहित अवस्था हो जाती है तब चौदहवें गुणस्थानमें व्युपरत-क्रिया-निवर्ति नामका चौथा शुक्लध्यान होता है। प्रथम शुक्लध्यानसे मोहनीय कर्मका उपशम अथवा क्षय होता है। द्वितीय शुक्लध्यानसे शेष तीन घातिया कर्मोंका क्षय होता है। तृतीय शुक्ल ध्यानसे कर्मोंकी अत्यधिक निर्जरा होती है और चतुर्थ शुक्लध्यानके द्वारा अघातिया कर्मोंकी पचासी प्रकृतियोंका क्षय होता है।

आगे तप आचारका समारोप करते हैं—

एषोऽस्ति तप आचारः साधूनां प्रमुखा क्रिया।
एतेनैव विलीयन्ते कर्माणि निखिलान्यपि ॥ ११४ ॥
अत्रैव तप आचारे मुनयः कर्मनिर्जराम्।
चिकीर्षव स्तपस्यन्ति धृत्वा नानाव्रतान्यपि ॥ ११५ ॥
सिंहनिष्क्रीडितादीनि कठिनानि महान्त्यपि।
एषां विधिविधानानि ज्ञेयानि हरिवंशतः ॥ ११६ ॥

---

१. इनका स्वरूप तथा गुणस्थान आदिका वर्णन पहले सम्यक्त्व-चिन्तामणि और सज्ज्ञान चन्द्रिकामें किया गया है, अतः विस्तार भयसे यहाँ भेदमात्र कहे गये हैं।

अर्थ—यह तप आचार साधुओंकी प्रमुख क्रिया है। इसीके द्वारा सभी कर्म विलय—विनाशको प्राप्त होते हैं। इसी तप आचारमें कर्म-निर्जराके इच्छुक मुनि सिंहनिष्क्रीडित आदि बड़े-बड़े कठिन व्रत धारण कर तपस्या करते हैं। इन व्रतोंका विधि-विधान हरिवंश पुराण (३४ वां सर्गसे) जानना चाहिये ॥ ११४-११६ ॥

आगे वीर्याचारका वर्णन करते हैं—

वीर्याचारमथाश्रित्य ब्रवीमि किञ्चिदत्र भोः।
यथाजातः स्वतो बालः स्वशक्ति वर्धयन् क्रमात् ॥ ११७ ॥
उत्तुङ्गगिरिशृङ्गेषु चटितुं जायते क्षमः।
तथा सुदीक्षितः साधुः स्ववीर्यं वर्धयन् क्रमात् ॥ ११८ ॥
आतापनादियोगेषु दक्षो दक्षतरो भवेत्।
वीर्यं स्यादात्मनः शक्तिर्बलं शारीरिकं मतम् ॥ ११९ ॥
पुरस्तादात्मवीर्यस्य बलं तुच्छं हि दृश्यते।
कृतमासोपवासो यः सोऽपि शैलशिलातले ॥ १२० ॥
करोत्यातापनं योगं चित्रं वीर्यं तपस्विनाम्।
अभ्रावकाशं शीततौ हिमाच्छादितकानने ॥ १२१ ॥
प्रावृट्कालेऽपि वर्षाभिः सागरीकृतभूतले।
वर्षायोगं च संधृत्य पादपानामधस्तले ॥ १२२ ॥
ग्रीष्मतौ तप्तभूखण्डे शैले तप्तशिलोच्चये।
आतापनं महायोगं धृत्वा तिष्ठन्ति योगिनः ॥ १२३ ॥
वीर्याचारस्य मध्ये तु मुनयो ध्यानतत्पराः।
नानासनानि संधृत्य तिष्ठन्ति गहने वने ॥ १२४ ॥

अर्थ—अब वीर्याचारका आश्रयकर यहाँ कुछ कहता हूँ। जिस प्रकार उत्पन्न हुआ बालक स्वयं ही क्रम-क्रमसे अपनी शक्तिको बढ़ाता हुआ उन्नत पर्वतकी चोटियोंपर चढ़नेमें समर्थ होता है उसी प्रकार दीक्षित मुनि क्रमसे अपनी शक्तिको बढ़ाते हुए आतापनादि योगोंमें अत्यन्त समर्थ हो जाते हैं। आत्माकी शक्तिको वीर्य और शारीरिक शक्तिको बल कहते हैं। आत्मशक्तिके सामने शारीरिक बल तुच्छ दिखाई देता है। मासोपवासी मुनि भी पर्वत शिलातलपर आतापन योग धारण करते हैं। सचमुच ही तपस्वियोंका वीर्य आश्चर्यकारक होता है। जब वन बर्फसे आच्छादित रहता है ऐसी शीत ऋतुमें मुनि अभ्रावकाश—खुले मैदानमें तप करते हैं। वर्षासे जब स्थल समुद्रका रूप धारणकर

लेता है ऐसी वर्षा ऋतुमें वृक्षोंके नीचे वर्षायोग धारणकर तप करते हैं और जब समस्त पृथिवीतल तप्त हो जाता है ऐसी ग्रीष्म ऋतुमें संतप्त पर्वतपर आतापन नामक महायोग धारणकर योगी स्थित होते हैं। ध्यानमें तत्पर रहने वाले मुनि, वीर्याचारके मध्य नाना आसन धारणकर सघन वनमें विद्यमान रहते हैं ॥ ११७-१२४ ॥

आगे पञ्चाचार प्रकरणका समारोप करते हैं—

पञ्चाचारमयं तपोऽत्र विधिना धृत्वा तपस्यन्ति ये
ते क्षिप्रं निविडं स्वकर्मनिगडं भित्वा शिवं यान्ति वै।
भो भव्यास्तपसां प्रभावमतुलं दृष्ट्वा तपेयुश्चिरात्
भीतं ते भवबन्धनाद्यदि मनः कस्य प्रतीक्षा तव ॥ १२५ ॥

अर्थ—जो मुनि इस जगत्में विधिपूर्वक पञ्चाचार रूप तपको धारण कर तपस्या करते हैं वे निश्चयसे शीघ्र हो कर्मरूपी सुदृढ़ बेड़ीको काटकर मोक्षको प्राप्त होते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं—हे भव्यजन हो! यदि तुम्हारा मन संसारके बन्धनसे भयभीत हुआ है तो तपका अनुपम प्रभाव देखकर दीर्घकाल तक तप करो। तुम्हें किसकी प्रतीक्षा है? ॥ १२५ ॥

इस प्रकार सम्यक्-चारित्र-चिन्तामणिमें पञ्चाचारका
वर्णन करनेवाला सप्तम प्रकाश पूर्ण हुआ।

अष्टम प्रकाश

अनुप्रेक्षाधिकार

मङ्गलाचरणम्

विपद्यमानं भुवनं विलोक्य
ये वीतरागा भवतो विभीताः।
धरन्ति दीक्षां भुविमाननीयां
तांस्तानहं भक्तिभरेण नौमि ॥ १ ॥

अर्थ—संसारको नष्ट होता देख रागरहित जो पुरुष संसारसे भयभीत हो पृथिवीपर माननीय दीक्षाको धारण करते हैं उन प्रसिद्ध मुनियोंको मैं भक्तिभारसे नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

अब वैराग्य वृद्धिके अर्थ अनुप्रेक्षाओंका वर्णन करते हुए प्रथम अनित्यानुप्रेक्षाका वर्णन करते हैं—

वैराग्यस्य प्रकर्षाय मुनिभिः काननस्थितैः ।
चिन्त्यन्ते भावना नूनमनित्यत्वादि संज्ञिताः ॥ २ ॥
नित्यं न विद्यते किञ्चिद् वस्तुलोकत्रये क्वचित् ।
भानुरुदेति यः प्रातः सायमस्तमुपैति सः ॥ ३ ॥
सुधांशुभिर्जगत्सर्वं सिञ्चन्निन्दुरपि स्वयम् ।
प्रातर्भवति निर्दीप्तिः शुष्कपाण्डुपलाशवत् ॥ ४ ॥
न दृश्यते बली रामो लक्ष्मणो न बलान्वितः ।
भरताद्या महाचक्रजिताखिलवसुन्धराः ॥ ५ ॥
न दृश्यन्ते महीभागे बलवद्भिरुपासिताः ।
क्व लुप्ता सा च सौवर्णी लङ्का दशमुखस्य हि ॥ ६ ॥
शिरःस्थाः श्यामला बालाः क्रियन्ते जरसा सिताः ।
मुखचन्द्रस्य सौन्दर्यं नश्यत् क्वापि प्रलीयते ॥ ७ ॥
बाहूवेतण्ड शुण्डाभौ जातौ शुष्कमृणालवत् ।
जितमुक्ता मुखे दन्ताः प्राप्तान्ताः कुत्र संगताः ॥ ८ ॥
जीवनं जन्तुजातस्य शरदभ्रवद् भङ्गुरम् ।
भङ्गुरा धनसम्पत्तिः चला सौन्दर्यसम्पदा ॥ ९ ॥
वस्तुतत्त्वं विमृश्यात्मन् स्वस्थो भव निरन्तरम् ।
देहाद भिन्नमवेहि स्वं ज्ञानानन्दस्वभावकम् ॥ १० ॥
सर्वं ह्यनित्यमेवैतत् पर्यायार्थविवक्षया ।
निखिलं नित्यमेवस्याद् द्रव्यार्थस्य विवक्षया ॥ ११ ॥

अर्थ—वैराग्यको वृद्धिके लिये वनमें स्थित मुनिराज अनित्यत्व आदि भावनाओंका चिन्तवन करते हैं। तीनों लोकोंमें कहीं कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। जो सूर्य प्रातःकाल उदित होता है। वह सायं समय अस्तको प्राप्त हो जाता है। अमृतमय किरणोंसे समस्त जगत्को सींचने वाला चन्द्रमा भी अपने आप प्रातःकाल सूखे पलाश पत्रके समान कान्तिरहित हो जाता है। न बलवान् राम दिखाई देते हैं और न बलिष्ठ लक्ष्मण। जिन्होंने महाचक्रके द्वारा समस्त वसुधाको जीत लिया था तथा बड़े-बड़े बलवान् जिनकी सेवा करते थे ऐसे भरत आदि चक्रवर्ती दिखाई नहीं देते। रावणको वह सोनेकी लंका कहां लुप्त हो गई। शिरके काले बाल वृद्धावस्थाके द्वारा सुफेद कर दिये जाते हैं।

मुख चन्द्रका सौन्दर्य नष्ट होकर कहीं विलीन हो जाता है। हाथीको सूंड़के समान आभा वाली भुजाएँ सूखी मृणालके समान हो जाती हैं। मोतियोंको जीतने वाले मुखके दांत नष्ट होकर कहां चले जाते हैं? जीवोंका जीवन शरद्‌के बादलोंके समान भङ्गुर है। धन सम्पत्ति नश्वर है, सौन्दर्य सम्पदा अस्थिर है। इस प्रकार हे आत्मन्! वस्तु स्वभावका विचारकर तूं निरन्तर स्वस्थ रह अपना उपयोग अन्य पदार्थोंमें मत घुमा। पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा सब पदार्थ अनित्य हो हैं और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सब पदार्थ नित्य हो हैं॥ २-११॥

आगे अशरण भावनाका चिन्तवन करते हैं—

कण्ठीरवसमाक्रान्तकुरङ्गस्येव कानने।
यमाक्रान्तस्य जीवस्य नास्तीह शरणं क्वचित्॥ १२॥
माता स्वसा पिता पुत्रो भ्राताभ्रातृसुतोऽपि च।
एते सर्वे मिलित्वापि त्रायन्ते नैव मृत्युतः॥ १३॥
दावानलेन संव्याप्ते गहने पादपस्थितः।
दग्धं सर्वं विलोक्याप्य दग्धं स्वं मन्यते यथा॥ १४॥
तथैव निखिलं लोकं मृत्युव्याघ्रमुखस्थितम्।
दृष्ट्वापि हन्त मर्त्योऽयं स्वं स्वस्थं मन्यते मुधा॥ १५॥
निर्गते जोविते जीवं गृहान् निःसारयन्ति हा।
बान्धवा मित्रवर्गाश्च नयन्ते शवशायनम्॥ १६॥
भस्मयन्ति मिलित्वा ते विलपन्ति रुदन्ति च।
विपद्यमानान् दृष्ट्वापि मृतः प्रत्येति न क्वचित्॥ १७॥
संसारस्य स्वभावोऽयमनादिनिधनो मतः।
उत्पद्यन्ते म्रियन्ते च जीवा भवमरुस्थले॥ १८॥
कोऽपि केनापि सार्धं नो याति वै प्रतियाति नो।
एक एव सुहृद् धर्मः सार्धं जीवेन गच्छति॥ १९॥
शैले वने तडागे वा शैलस्य शिखरेष्वपि।
धर्म एव परो बन्धुस्तरणं भववारिधेः॥ २०॥
आत्मन्नशरणं मत्वा धर्मस्य शरणं व्रज।
धर्मादृते न कोऽप्यस्ति त्राता तव जगत्त्रये॥ २१॥

अर्थ—जिस प्रकार वनमें सिंहके द्वारा चपेटे हुए हरिणका कोई शरण—रक्षक नहीं है उसी प्रकार यमके द्वारा आक्रान्त जीवको कहीं कोई शरण नहीं है। माता, बहिन, पिता, पुत्र, भाई और भतीजा, ये सब

मिलकर भी मृत्युसे रक्षा नहीं कर सकते। दावानलसे व्याप्त वनमें वृक्ष-पर बैठा हुआ मनुष्य सबको जलता देखकर जिस प्रकार अपने आपको सुरक्षित मानता है उसी प्रकार यह मनुष्य समस्त लोकको मृत्युरूप व्याघ्रके मुखमें स्थित देखकर भी अपने आपको व्यर्थ ही स्वस्थ मानता है। प्राणोंके निकल जानेपर मनुष्य जीवको घरसे निकाल देते हैं और बान्धव तथा मित्रवर्ग श्मशानमें ले जाते हैं, मिलकर भस्म कर देते हैं, विलाप करते हैं और रोते हैं। सम्बन्धी जनोंको रोता चीखता देखकर कोई भी मृत व्यक्ति कहीं लौटकर नहीं आता। संसारका यह स्वभाव अनादिनिधन माना गया है। संसार रूपी मरुस्थलमें जीव उत्पन्न होते हैं और मरते हैं। कोई किसीके साथ नहीं जाता और न कोई लौटकर आता है। एक धर्मरूप मित्र ही जीवके साथ जाता है। पर्वतपर, वनमें, तालाबमें तथा पर्वतकी शिखरोंपर धर्म ही उत्कृष्ट बान्धव-सहायक है, संसार सागरसे तारने वाला है। हे आत्मन्! अपने आपको अशरण मान धर्मकी ही शरणको प्राप्त हो। धर्मके बिना तीनों लोकोंमें कोई भी तेरा रक्षक नहीं है ॥ १२-२१ ॥

अब संसार भावनाका वर्णन करते हैं—

अस्मिन् भवार्णवे घोरे दुःखनीरौघसंभृते।
जन्ममृत्युमहानक्रकीर्णे व्याधितरङ्गके ॥ २२ ॥

भ्रमन्तो दुःखसम्भारं चिरं सीदन्ति जन्तवः।
श्वभ्रतिर्यङ्मनुष्याणाममराणां च धामनि ॥ २३ ॥
भूयोभूयो भ्रमित्वाहं श्रान्तदेहो बभूव हा।
एकस्यां श्वासवेलायामष्टादशवारकम् ॥ २४ ॥
विपद्योत्पद्यमानोऽहमभजं घोरवेदनाम्।
नटवत्स्वामिभृत्यानां वेषस्य परिवर्तनम् ॥ २५ ॥

दृष्ट्वा कथं विरक्तो नो जायते मर्त्यसंचयः।
निर्धनो धनकाङ्क्षायाः सधना धनतृष्णया ॥ २६ ॥
प्राप्नुवन्ति महादुःखं सुखी नास्त्यत्र कश्चन।
द्रव्यं क्षेत्रं तथा कालं भवं भावं च नित्यशः ॥ २७ ॥
पूर्णं करोति जीवोऽयं परावर्तनपञ्चकम्।
मृत्वा संजायते क्षिप्रं भूत्वा च म्रियते क्षणात् ॥ २८ ॥
एको रोदिति सन्तानाभावतो भुवि भूरिशः।
अन्यो रोदिति दुर्वृत्तसंतानस्य समागमात् ॥ २९ ॥

कस्यचिन्मृतिमायाति सुगुणः प्रियपुत्रकः।
कस्यचित् सुगुणाभार्या प्रयाता यममन्दिरम् ॥ ३० ॥
एकेन राज्यमालब्धमेकः सीदति कानने।
राज्यलक्ष्मीपरिभ्रष्टो विचित्रा भवपद्धतिः ॥ ३१ ॥
संसारस्य स्वरूपं ये चिन्तयित्वा स्वचेतसि।
विरक्ता भवभोगेभ्यो धन्यास्ते सन्ति भूतले ॥ ३२ ॥

अर्थ—दुखःरूप जलसे परिपूर्ण, जन्ममृत्यु रूपी बड़े-बड़े मगरमच्छों से व्याप्त और रोगरूपी तरङ्गोंसे सहित इस भयंकर संसार सागरमें दुःख का भार ढोते हुए जीव चिरकालसे दुःखी हो रहे हैं। बड़े दुःखकी बात है कि मैं नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवोंके स्थान-स्वर्गमें बार-बार भ्रमणकर श्रान्त शरीर हो गया हूँ—थक गया हूँ। एक श्वासके समयमें अठारह बार जन्म मरण करते हुए मैंने घोर वेदना प्राप्त की है। नटके समान स्वामी और सेवकोंका वेष परिवर्तन देखकर यह मनुष्योंका समूह विरक्त क्यों नहीं होता? निर्धन मनुष्य धनकी आकाङ्क्षासे और धनवान् मनुष्य धनकी तृष्णासे महान् दुःख पा रहे हैं। इस जगत्में कोई सुखी नहीं है। यह जीव-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पाँच परावर्तनोंको पूर्ण करता रहता है। मरकर शीघ्र ही उत्पन्न होता है और उत्पन्न होकर शीघ्र ही मृत्युको प्राप्त होता है। पृथिवीपर एक मनुष्य सन्तानके अभावमें अत्यन्त रोता है तो कोई दुराचारी संतानके संयोगसे रोता है। किसीका गुणवान् प्रिय-पुत्र मृत्युको प्राप्त होता है तो किसीको गुणवती स्त्री मर जाती है। एक पुरुषने राज्य प्राप्त किया और एक पुरुष राज्य लक्ष्मीसे भ्रष्ट हो वनमें दुःखी होता है, संसारकी पद्धति बड़ी विचित्र है। जो मनुष्य अपने मनमें संसारके स्वरूपका विचारकर संसार सम्बन्धी भोगोंसे विरक्त होते हैं, पृथिवी तलपर वे ही धन्य हैं—सर्वश्रेष्ठ हैं ॥ २२-३२ ॥

आगे एकत्व भावनाका कथन करते हैं—

एक एवात्र जायेऽहमेक एव म्रिये तथा।
एको निर्वाणमायाति नास्त्यन्यः कोऽपि मे निजः ॥ ३३ ॥
यादृशे पुण्यपापे च कर्मणी विदधात्ययम्।
तादृशे सुखदुःखे च स्वयमाप्नोति मानवः ॥ ३४ ॥
दत्तं परेण नाप्नोति परस्मै नो ददाति च।
अन्योऽन्यव्यत्ययो नास्ति पुण्यपापाख्यकर्मणोः ॥ ३५ ॥

पिता नरकमायाति पुत्रो मोक्षं प्रयाति च।
स्वकृतं सर्व आप्नोति दुरन्तेऽस्मिन् भवार्णवे॥ ३६॥
अन्यस्य सुखसिद्धयर्थं कुरुते दुरितं जनः।
तत्फलं स्वयमाप्नोति नान्यः क्वापि कदाचन॥ ३७॥
हे आत्मन् स्वहितं पश्य तदेव स्वस्सुखावहम्।
परदृष्टिस्त्वयात्याज्या सुखं वाञ्छसि चेद्ध्रुवम्॥ ३८॥
अस्मिन्ननादिसंसारे स्वतन्त्राः सन्ति जन्तवः।
कर्तारः सन्ति सर्वेऽपि स्वभावस्यैव सर्वदा॥ ३९॥
परः परस्यकर्तास्ति दृष्टिरेषा न शोभना।
इष्टानिष्टविकल्पानां जनकत्वाद्भयावहा॥ ४०॥
दृष्ट्वेष्टं सुखसम्पन्नं मोदन्ते रागिणो जनाः।
दृष्ट्वा च दुःखसम्पन्नं द्वयन्ते नितरां हि ते॥ ४१॥
रागद्वेषौ परित्यज्य परकीयेषु वस्तुषु।
वीतरागस्वभावे स्वमात्मनि सुस्थिरो भव॥ ४२॥

अर्थ—इस जगत्में मैं अकेला ही उत्पन्न होता हूँ, अकेला ही मरता हूँ और अकेला ही निर्वाणको प्राप्त होता हूँ, अन्य कोई व्यक्ति मेरा निजी नहीं है। यह मनुष्य जैसे पुण्य-पाप कर्म करता है वैसे ही सुख-दुःखको स्वयं प्राप्त होता है। यह मनुष्य न तो दूसरेके द्वारा दिये हुए को प्राप्त होता है और न दूसरेको देता है। पुण्य-पाप कर्मका परस्पर आदान-प्रदान नहीं होता। पिता नरकको प्राप्त होता है तो पुत्र मोक्षको जाता है। इस दुःखदायक संसार-सागरमें सब अपना किया हुआ ही प्राप्त करते हैं। दूसरेकी सुख-सिद्धिके लिए मनुष्य पाप करता है परन्तु उसका फल स्वयं प्राप्त करता है दूसरा कोई कहीं, कभी नहीं। हे आत्मन्! तूं अपना हित देख, वही तेरे लिए सुखदायक होगा। यदि तू स्थायी सुख चाहता है तो तुझे परदृष्टि छोड़ने योग्य है। इस अनादि-संसारमें सब जीव स्वतन्त्र हैं, सभी सदा स्वभावके ही कर्ता हैं। पर, परका कर्ता है, यह दृष्टि—विचारधारा अच्छी नहीं है। इष्टानिष्ट विकल्पोंका जनक होनेसे संसारको बढ़ाने वाली है। इष्ट मनुष्यको सुखी देखकर रागी मनुष्य हर्षित होते हैं और दुःखी देखकर अत्यन्त दुःखी होते हैं। इसलिए पर-वस्तुओंमें राग, द्वेष छोड़कर वीतराग स्वभाव वाले आत्मामें—अपने आपमें स्थिर हो जा॥ ३१-४२॥

अब अन्यत्वभावनाका चिन्तन करते हैं—

नाहं नोकर्मरूपोऽस्मि न च वै कर्मरूपकः।
नाहं रागादिरूपोऽहं न च ज्ञेयस्वरूपकः॥ ४३॥
न गुणस्थानरूपोऽहं न च वै मार्गणामयः।
न शब्दोऽहं न वर्णोऽहं न च स्पर्शो न गन्धवान्॥ ४४॥
न रसोऽहं न पुण्याढ्यो न च पापमयः क्वचित्।
एते सर्वे परद्रव्यसंजाता विविधात्मकाः॥ ४५॥
अहं ज्ञानस्वभावोऽस्मि परतो भिन्न एव हि।
आत्मानं देहतो भिन्नं ये जानन्ति मुनीश्वराः॥ ४६॥
त एव शिवमायान्ति कुर्वन्तः कर्मनिर्जराम्।
यदा देहोऽपि मे नास्ति जन्मतः प्राप्तसंगतिः॥ ४७॥
तदा गेहादयो बाह्याः पदार्थाः सन्तु मे कथम्।
पुत्रभार्यादिषु भ्रान्ताः कुर्वाणा ममताश्रयम्॥ ४८॥
'मे मे मे' इति कुर्वाणा बर्करा इव मानवाः।
पतिता मोहपङ्केऽस्मिन् प्रविशन्ति मृतेर्मुखे॥ ४९॥
यथा लोहस्य संसर्गादनलः पीड्यते घनैः।
तथा देहस्य संसर्गादात्माऽयं पीड्यते घनैः॥ ५०॥
जीवानामत्र सन्त्यत्र यावन्त्यो हि विपत्तयः।
तावन्त्यो निखिला ज्ञेयाः संयोगादेव देहिनाम्॥ ५१॥
येषामात्मा पराच्च्युत्वा शुद्धाकाशनिभोऽभवत्।
त एव भगवत्सिद्धाः सुखिनः सन्ति नेतरे॥ ५२॥

अर्थ—निश्चयसे मैं नो कर्मरूप नहीं हूँ, कर्मरूप नहीं हूँ, रागादि-रूप नहीं हूँ, ज्ञेयरूप नहीं हूँ, गुणस्थानरूप नहीं हूँ, मार्गणामय नहीं हूँ, शब्द नहीं हूँ, वर्ण नहीं हूँ, स्पर्श नहीं हूँ, गन्धवान् नहीं हूँ, रसरूप नहीं हूँ, पुण्य सहित नहीं हूँ और कहीं पाप सहित भी नहीं हूँ। ये सब नाना रूप परद्रव्यके संयोगसे उत्पन्न हुए हैं। मैं ज्ञान स्वभावी हूं, परसे भिन्न ही हूं जो मुनिराज शरीरसे भिन्न आत्माको जानते हैं वे ही कर्मोंको निर्जरा करते हुए मोक्षको प्राप्त होते हैं। जब जन्मसे साथ लगा हुआ शरीर भी मेरा नहीं है तब घर आदि बाह्य पदार्थ मेरे कैसे हो सकते हैं? पुत्र तथा स्त्री आदिमें भूले मनुष्य ममताका आश्रय करते हुए 'मे मे मे' करने वाले बकरोंके समान मोहरूपी कर्दममें पड़कर मृत्यु-के मुखमें प्रवेश करते हैं—मर जाते हैं। जिस प्रकार लोहकी संगतिसे

अग्नि, घनोंके द्वारा पीटी जाती है उसी प्रकार देहकी संगतिसे यह आत्मा, कर्म रूपी घनोंके द्वारा पीटी जाती है। इस जगत्‌में जीवोंको जितने कष्ट हैं वे सब स्त्री पुत्रादि प्राणियोंके संयोगसे ही जानना चाहिये। जिनकी आत्मा परसे च्युत हो शुद्ध आकाशके समान हो गई है वे भगवंत सिद्ध परमेष्ठी ही लोकमें सुखी हैं ॥ ४३-५२ ॥

आगे अशुचित्व भावनाका चिन्तन करते हैं—

मातातातरजोवीर्यादुत्पत्तिर्यस्य जायते।
स देहः शुचितां यायात् कथमित्थं विचार्यताम् ॥ ५३ ॥
यः स्वभावादशुद्धोऽस्ति स शुद्धः स्यात्कथं परैः।
मलमूत्रमयो देहो सुन्दरचर्मणावृतः ॥ ५४ ॥
स्वर्णपत्रसमाच्छन्नमलपूर्णघटोपमः।
एतत्संगतिमासाद्य चित्रमाद्यन्ति मानवाः ॥ ५५ ॥
यदीय सङ्गमासाद्य वस्तून्यत्र शुचीन्यपि।
अशुचीन्येव जायन्ते स देहो रूच्यते कथम् ॥ ५६ ॥
शरीररागः सर्वेषां रागाणां मूलमुच्यते।
सर्वरागविरक्तिश्चेद् देहरागो विमुच्यताम् ॥ ५७ ॥
देहरागेण संयुक्ता व शक्ताः स्युः परीषहान्।
सोढुं क्षुधापिपासादीन् देहपीडाकरान् सदा ॥ ५८ ॥
इत्थंभूता नराः क्वापि मुनिदीक्षां धरन्ति नो।
मुनिदीक्षां विना क्वापि मोक्षप्राप्तिर्न जायते ॥ ५९ ॥
यथार्थं सुखलिप्सा ते मानसे यदि वर्तते।
देहरागस्त्वया त्याज्यस्तर्हि मुक्तिप्रबाधकः ॥ ६० ॥
देहस्याशुचितां नित्यं भावयित्वा मुनीश्वराः।
देहरागं परित्यक्तुं समर्थाः सन्ति भूतले ॥ ६१ ॥
एते मुनीश्वरा एव कायक्लेशादिकं तपः।
कुर्वन्ति श्रद्धयोपेताः कर्मक्षयविधायकम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—माता-पिताके रजवीर्यसे जिसकी उत्पत्ति होती है वह शरीर शुचिता—पवित्रताको कैसे प्राप्त हो सकता है, ऐसा विचार करना चाहिये? जो स्वभावसे अशुद्ध है वह दूसरे पदार्थोंसे शुद्ध कैसे हो सकता है? मलमूत्रमय शरीर सुन्दर चर्मसे ढका हुआ है अतः स्वर्णपत्रसे आच्छादित मलपूर्ण घड़ेके समान है। इस शरीरको संगति पाकर मनुष्य मत्त होते हैं—अपने आपको भूल जाते हैं। यह आश्चर्य की बात

है; इस जगत्में जिसका सङ्ग पाकर अन्य पवित्र वस्तुएँ भी अपवित्र हो जाती हैं वह शरीर लोगोंको कैसे रुचता है—अच्छा लगता है ? शरीरका राग ही सब रोगोंका मूल कहा जाता है। यदि सब रागोंसे विरक्ति हुई है तो शरीरका राग छोड़ना चाहिये। शरीरके रागसे सहित मनुष्य शरीरकी पीड़ा करने वाले क्षुधा, तृषा आदि परीषहोंको सहन करनेमें सदा समर्थ नहीं हो सकते। ऐसे मनुष्य कहीं भी मुनि-दीक्षा धारण नहीं करते और मुनि-दीक्षाके बिना कहीं भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। हे आत्मन् ! यदि तेरे मनमें यथार्थ सुख प्राप्त करनेकी इच्छा है तो तुझे मुक्तिका बाधक शरीर सम्बन्धी राग छोड़ देना चाहिये। पृथिवीतलपर मुनिराज सदा शरीरकी अशुचिताका विचारकर शरीर सम्बन्धी रागके छोड़नेमें समर्थ हैं। ये मुनिराज ही श्रद्धासे सहित हो कर्मक्षयकारक कायक्लेशादिक तप करते हैं ॥ ५३-६२ ॥

अब आस्रव भावनाका स्वरूप कहते हैं—

सच्छिद्रां नावमारुह्य यथा नो यान्ति मानवाः ।
स्वेष्टं धाम तथा लोकाः सास्रवाः स्वेष्टधामकम् ॥ ६३ ॥

मनोवाक्कायचेष्टा या सैव योगः समुच्यते ।
योगेनैवास्रवस्यत्र विविधा कर्मसन्ततिः ॥ ६४ ॥

तस्यां स्थित्यनुभागौ च कषायोदयतो मतौ ।
यथा स्थित्यनुभागं च सा ददाति फलं नृणाम् ॥ ६५ ॥

कर्मोदयवशाज्जीवा चतुरन्तभवार्णवे ।
मज्जनोन्मज्जने नूनं कुर्वन्ति विभ्रमन्ति च ॥ ६६ ॥

एकान्तादिप्रभेदेन मिथ्यात्वं पञ्चधा मतम् ।
अविरतिश्च विख्याता द्वादशभेदसंयुता ॥ ६७ ॥

भेदाः सन्ति प्रमादस्य दशधा पञ्चधापि च ।
कषायाणां प्रभेदाः स्युः पञ्चविंशति संख्यकाः ॥ ६८ ॥

योगाः पञ्चदश प्रोक्ताः कर्मसिद्धान्तपारगैः ।
द्वासप्ततिमिताः प्रोक्ताः कर्मसिद्धान्तपारगैः ॥ ६९ ॥

एभ्यो रक्षा प्रकर्तव्या स्वात्मनः सततं नृभिः ।
आस्रवे सति जीवानां कल्याणं नैव सम्भवेत् ॥ ७० ॥

यथा यथाहि जीवोऽयं गुणस्थानेषु वर्धते ।
तथा तथा हि जीवस्य क्षीयन्ते स्वत आस्रवाः ॥ ७१ ॥

एवं चतुर्दशे स्थाने सर्वास्रवनिरोधतः।
अबन्धः पूर्णएवास्ति क्षणान्मुक्तिं प्रयाति सः॥ ७२॥

अर्थ—जिस प्रकार छिद्र सहित नावपर सवार हो मनुष्य अपने इष्ट स्थानको प्राप्त नहीं होते हैं उसी प्रकार आस्रव सहित मनुष्य अपने इष्ट स्थान—मोक्षको प्राप्त नहीं होते हैं। मन, वचन, कायको जो चेष्टा—व्यापार है वही योग कहलाता है। इस योगके द्वारा ही आत्मा-में विविध कर्मसमूहोंका आस्रव होता है। उन कर्मसमूहोंमें स्थिति और अनुभाग कषायके उदयसे होते हैं और स्थिति—अनुभागके अनु-सार वे मनुष्योंको फल देते हैं। कर्मोदयके वशीभूत जीव चतुर्गतिरूप संसार सागरमें मज्जन और निमज्जन करते हुए, खेद है कि निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं। एकान्त आदिके भेदसे मिथ्यात्व पाँच प्रकारका माना गया है, अविरतिके बारह भेद प्रसिद्ध हैं, प्रमादके पन्द्रह भेद हैं, कषायोंके पच्चीस प्रभेद हैं और योग पन्द्रह प्रकारके हैं। कर्मसिद्धान्त के पारगामी आचार्योंने ये ही सब आस्रवके बहत्तर भेद कहे हैं। मनुष्योंको इन आस्रवके भेदोंसे अपनी रक्षा करना चाहिये, क्योंकि आस्रवके रहते हुए जीवोंका कल्याण नहीं हो सकता है। जैसे-जैसे यह जीव गुणस्थानोंमें बढ़ता जाता है वैसे-वैसे ही उसके आस्रव अपने आप कम होते जाते हैं। इस प्रकार चौदहवें गुणस्थानमें सब आस्रवोंका अभाव हो जानेसे पूर्ण अबन्ध हो जाता है—बन्धका सर्वथा अभाव हो जाता है और तब यह आत्मा क्षणभरमें मुक्तिको प्राप्त हो जाता है॥ ६३-७२॥

आगे संवर भावनाका चिन्तन करते हैं—

आस्रवस्य निरोधो यः संवरः स हि कथ्यते।
संवरेण विना लोको नेष्टं स्थानं व्रजेत् क्वचित्॥ ७३॥
सच्छिद्रपोतमारूढो जलस्यास्रवणे सति।
नियमेन ब्रुडत्येव गभीरे सागरे यथा॥ ७४॥
तथास्रवद्विच्छिद्रमं शुभाचारमधिष्ठितः।
नियमेन पतत्येव भयाढ्ये भवसागरे॥ ७५॥
मनो वाक्कायगुप्तीनां त्रयेण वशवर्तताः।
पञ्चभ्यः समितिभ्यश्च चारित्राणां च पञ्चकात्॥ ७६॥
द्वादशभ्योऽनुप्रेक्षाभ्यो द्वाविंशत्या परीषहैः।
संवरो जायते नूनं सम्यग्बुद्ध्या विमुञ्चताम्॥ ७७॥

मिथ्यादृशामबन्धोऽस्ति केषां चित्पुण्यकर्मणाम् ।
तीर्थकृत्प्रभृतीनां च संवरो नैव जायते ॥ ७८ ॥

सत्येव बन्धविच्छेदे संवरो हि निगद्यते ।
संवरेण युता या हि निर्जरा कर्मणामिह ॥ ७९ ॥

सैव सार्थक्यमाप्नोति नान्या विग्रहधारिणाम् ।
समये समये जीवजातीनां कर्मणां चयः ॥ ८० ॥

बन्धमाप्नोति तावांश्च निर्जरामेति सर्वतः ।
सत्तायां विद्यते सार्धगुणहानिमितस्तथा ॥ ८१ ॥

मोहनिद्राशमात् साधुसङ्गस्य शुभदेशनात् ।
सम्यक्त्वं प्राप्यते भव्यैस्त्रिलोक्यामपि दुर्लभम् ॥ ८२ ॥

संवरमेव सम्प्राप्तुं प्रयत्नं कुरु सर्वदा ।
संवरमन्तरा न स्यात् कर्मणां क्षपणं क्वचित् ॥ ८३ ॥

अर्थ—जो आस्रवका रुकना है वही संवर कहलाता है। संवरके बिना मनुष्य कहीं भी इष्टस्थानको प्राप्त नहीं हो सकता। सच्छिद्र जहाजपर बैठा मनुष्य जलका आगमन होने पर जिस प्रकार गहरे समुद्रमें नियमसे डूबता है, उसी प्रकार शुभ-अशुभ कर्मोंके आस्रवसे सहित शुभाचारको प्राप्त हुआ (मिथ्यादृष्टि) नियमसे भयपूर्ण संसार सागरमें पड़ता है। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति—इन तीन गुप्तियोंसे, उत्तमक्षमादि दश धर्मोंसे, पाँच समितियोंसे, पाँच प्रकारके चारित्रोंसे, बारह अनुप्रेक्षाओंसे तथा बाईस परीषहजयोंसे सम्यग्दृष्टि जीवोंके निश्चय ही संवर होता है। मिथ्यादृष्टि जीवोंके तीर्थङ्कर प्रकृति, आहारक शरीर तथा आहारक शरीराङ्गोपाङ्ग इन पुण्य प्रकृतियोंका अबन्ध है, संवर नहीं, क्योंकि बन्ध व्युच्छित्ति होने पर ही संवर कहलाता है। संवरके साथ जो कर्मोंकी निर्जरा होती है वही सार्थकताको प्राप्त होती है। वैसे तो सभी संसारी जीवोंके प्रत्येक समय जितना (सिद्धोंके अनन्तवें भाग और अभव्यराशिसे अनन्तगुणित) कर्मसमूह बन्धको प्राप्त होता है, उतना ही सब ओरसे निर्जराको प्राप्त होता है और डेढ़ गुणहानि प्रमाण कर्मसमूह सत्तामें रहता है। मोहनिद्राके उपशम तथा साधुसङ्गके उपदेशसे भव्य जीव त्रिलोक दुर्लभ सम्यग्दर्शन को प्राप्त करते हैं। इसलिये हे आत्मन् ! संवरको ही प्राप्त करनेका सदा प्रयत्न करो, क्योंकि संवरके बिना कर्मोंका क्षय कहीं कभी नहीं होता है ॥ ७३-८३ ॥

आगे निर्जरा भावनाका चिन्तन करते हैं—

कर्मणां पूर्वबद्धानामेकदेशस्य संक्षयः।
निर्जरा प्रोच्यते विज्ञैर्जैनागमविशारदैः॥ ८४ ॥
सविपाकाविपाकेतिभेदेन द्विविधा च सा।
आद्या भवति सर्वेषां द्वितीया स्यात्तपस्विनाम्॥ ८५ ॥
कर्मस्थित्यनुसारेणाबाधाकाले समागते।
ददतः स्वफलं कर्म-प्रदेशाः संचिताः स्वयम्॥ ८६ ॥
पृथग् भवन्ति जीवेभ्यः सविपाका मता श्रुतौ।
प्रभावात् तपसां केचिदाबाधा पूर्वमेव हि॥ ८७ ॥
निर्जीर्णा यत्र जायन्ते सा मता ह्यविपाकजा।
अविपाकाप्रभावेण जीवा आयान्ति निर्वृतिम्॥ ८८ ॥
सविपाकाप्रभावात्तु तिष्ठन्त्यत्रैव विष्टपे।
अनशनादिभेदेन तपांसिसन्ति द्वादश॥ ८९ ॥
तान्येव सूरिभिः प्रोक्ता अविपाकासुहेतवः।
हेतौ सत्येव सिद्ध्यन्ति कार्याणि न तु तं विना॥ ९० ॥
आत्मन्! वाञ्छसि चेद्दुःखपरिमोक्षं समन्ततः।
सद्यः कुरु तपांसि त्वं यथाकालं यथाबलम्॥ ९१ ॥
अग्नितप्तं यथा हेमनिर्मलं जायते द्रुतम्।
तपस्तप्तस्तथात्मायं निर्मलो भवति ध्रुवम्॥ ९२ ॥
अनादितो निबद्धानि कर्माणि तपसा विना।
क्षीयन्ते नैव जीवानां वाञ्छतामपि नित्यशः॥ ९३ ॥

अर्थ—जैनागमके ज्ञाता विद्वानों द्वारा, पूर्वबद्ध कर्मोंके एकदेशका क्षय होना निर्जरा कही जाती है। यह निर्जरा सविपाका और अविपाकाके भेदसे दो प्रकारकी होती है। सविपाका निर्जरा सभी जीवोंके होती है परन्तु अविपाका निर्जरा तपस्वियों—मुनियोंके होती है। कर्मस्थितिके अनुसार आबाधाकाल आनेपर संचित कर्मप्रदेश अपना फल देते हुए जीवोंसे जो स्वयं पृथक् हो जाते हैं, यह निर्जरा शास्त्रोंमें सविपाका मानी गई है और जिससे तपके प्रभावसे कितने ही कर्मप्रदेश आबाधाके पूर्व ही निर्जीर्ण हो जाते हैं वह अविपाकजा निर्जरा मानी गई है। अविपाक निर्जराके प्रभावसे जीव निर्वाणको प्राप्त होते हैं और सविपाक निर्जराके प्रभावसे इसी संसारमें स्थित रहते हैं। अनशनादिके भेदसे तप बारह हैं, ये तप ही आचार्योंने अविपाक निर्जरा

के हेतु कहे हैं। हेतुके रहते हुए ही कार्य होते हैं हेतुके बिना नहीं। हे आत्मन्! यदि तू सब ओरसे दुःखोंसे छुटकारा चाहता है तो समय और शक्तिके अनुसार शीघ्र ही तपकर। जिस प्रकार अग्निसे संतप्त स्वर्ण शीघ्र ही निर्मल हो जाता है उसी प्रकार तपसे संतप्त यह आत्मा निश्चित ही निर्मल हो जाती है। जीव निरन्तर चाहें भी, तो भी उनके अनादिकालसे बँधे हुए कर्म तपके बिना नष्ट नहीं होते हैं॥ ८४-९३॥

अब लोक भावनाका चिन्तन करते हैं—

पादौ प्रसार्य भूपृष्ठे बाहूनिक्षिप्य मध्यके।
स्थितमर्त्यसमाकारो लोकोऽयं विद्यते सदा॥ ९४॥
न केनापि कृतो लोको न हर्तुं शक्य एव हि।
अनादिनिधनो ह्येष वातत्रयसमावृतः॥ ९५॥
अधोमध्योर्ध्वभेदेन लोकोऽयं त्रिविधो मतः।
श्वाभ्रा वसन्त्यधो लोके मध्यलोके च मानवाः॥ ९६॥
निलिम्पा ऊर्ध्वसम्भागे तिर्यञ्चः सन्ति सर्वतः।
अयं सुविस्तृतो लोको निचितो जीवराशिभिः॥ ९७॥
एकोऽपि स प्रदेशो न विद्यते भुवनत्रये।
यत्राहं न समुत्पन्नो यत्र वै न च संमृतः॥ ९८॥
हा हा क्षेत्रपरावर्ते सर्वत्र भ्रमितो भृशम्।
जन्ममृत्युमहादुःखमभजं भूरिशोऽप्यहम्॥ ९९॥
लोकरूपं विचिन्त्यात्र ये विरक्ता भवन्त्यतः।
त एव कर्मनिर्मुक्ता लोकाग्रे निवसन्ति हि॥ १००॥
सरिच्छैलादिसौन्दर्यं राजतीं चन्द्रिकाविभाम्।
सूर्योदयस्य लालित्यं निर्झरास्फालनं तथा॥ १०१॥
दृष्ट्वा रज्यन्ति भूभागे तत्रैव विहरन्ति च।
निर्जलां वृक्षहीनां च मरुभूमिं विलोक्य ये॥ १०२॥
द्विषन्ते मानवास्तेऽत्र रागद्वेषवशं गताः।
उत्पद्यन्ते म्रियन्ते च तत्रैव भुवनत्रये॥ १०३॥

अर्थ—पृथिवीपर दोनों पैर फैलाकर तथा दोनों हाथ कमरपर रखकर खड़े हुए पुरुषका जैसा आकार होता है वैसा ही आकार वाला यह लोक सदासे विद्यमान है। यह लोक न तो किसीके द्वारा किया गया है और न किसीके द्वारा नष्ट किया जा सकता है। अनादि निधन और तीन वातवलयोंसे वेष्टित—घिरा हुआ है। अधोलोक, मध्य-

लोक और ऊर्ध्वलोकके भेदसे यह तीन प्रकारका माना गया है। अधोलोकमें नारकी रहते हैं, मध्यलोकमें मनुष्य रहते हैं, ऊर्ध्वलोकमें देव रहते हैं और तिर्यञ्च सभी लोकोंमें रहते हैं। यह अत्यन्त विस्तृत लोक जीवराशिसे व्याप्त है। तीनों लोकोंमें वह एक भी प्रदेश नहीं है जहाँ मैं उत्पन्न नहीं हुआ हूँ और मरा नहीं हूँ। बड़े दुःखकी बात है कि क्षेत्र परावर्तनमें मैं सर्वत्र अनेक बार घूम चुका हूँ। मैंने जन्म और मृत्युका महान् दुःख अनेक बार प्राप्त किया है। इस तरह लोकका स्वरूप विचार कर जो उससे विरक्त होते हैं वे ही कर्मरहित हो लोकके अग्रभागपर निवास करते हैं और जो नदी तथा पर्वतोंका सौन्दर्य, चाँदी के समान चाँदनीकी प्रभा, सूर्योदयकी सुन्दरता और झरनोंके प्रपातको देखकर किसी प्रदेशमें राग करते हैं तथा वहीं विहार करते हैं एवं निर्जल तथा वृक्षहीन मरुभूमिको देखकर द्वेष करते हैं, रागद्वेषके वशीभूत हुए वे मनुष्य इन्हीं तीनों लोकोंमें उत्पन्न होते और मरते रहते हैं ॥ ९४-१०३ ॥

आगे बोधिदुर्लभ भावनाका चिन्तवन करते हैं—

लोकोऽयं सर्वतो व्याप्तः स्थावरजीवराशिभिः।
स्थावरात् त्रसताप्राप्तिर्दुर्लभा वर्ततेतराम् ॥ १०४ ॥

त्रसतायां च संज्ञित्वं संज्ञित्वे च मनुष्यता।
मनुष्यत्वे च सत्क्षेत्रं सत्क्षेत्रे च कुलीनता ॥ १०५ ॥

कुलीनतायामारोग्यमारोग्ये दीर्घजीविता।
तत्र सम्यक्त्वसंप्राप्तिस्तत्राप्तात्मनि लक्ष्यता ॥ १०६ ॥

तत्राप्यदोषचारित्वं दुर्लभं ह्यतिदुर्लभम्।
एवं विचार्य सद्बोधेर्दौर्लभ्यं तत् सुरक्ष्यताम् ॥ १०७ ॥

यथेह दुर्लभं ज्ञात्वा मणिमुक्तादिकं नराः।
रक्षन्ति तत्परत्वेन बोधी रक्ष्यस्त्वया तथा ॥ १०८ ॥

बोधी रत्नत्रयं नाम दुर्लभं वर्तते नृणाम्।
एकादशाद् गुणस्थानात् पतिताः साधवो ह्यधः ॥ १०९ ॥

अर्धपुद्गलपर्यन्तं पर्यटन्ति भवेभवे।
केचिच्चान्तर्मुहूर्तेन लब्ध्वा रत्नत्रयं निधिम् ॥ ११० ॥

प्राप्नुवन्ति शिवं सद्यः स्वात्मन्येव रता नराः।
परिणामस्य वैचित्र्यं छद्मस्थैर्नैव बुध्यते ॥ १११ ॥

भोगाकांक्षाविशाला ते न पूर्णा देवपर्यये।
सागरोपमजीवित्वे सर्वसाधनसंयुते ॥ ११२ ॥
अल्पायुषि नरत्वे सा पूर्यते कथमत्र सा।
ततो विरज्य भोगेभ्यः स्वस्मिन्नेव रतो भव ॥ ११३ ॥

अर्थ—यह लोक सब ओर स्थावर जीवोंके समूहसे व्याप्त है। स्थावरसे त्रस पर्यायकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। त्रस पर्यायमें संज्ञोपना, संज्ञियोंमें मनुष्यता, मनुष्यतामें अच्छा क्षेत्र, अच्छे क्षेत्रमें कुलीनता, कुलीनतामें आरोग्य, आरोग्यमें दीर्घायुष्य, दीर्घायुष्यमें सम्यक्त्वकी प्राप्ति, सम्यक्त्व प्राप्तिमें आत्माका लक्ष्य और आत्माके लक्ष्यमें निर्दोष चारित्रका पालन करना अत्यन्त दुर्लभ है। इस प्रकार सद्बोधि की दुर्लभताका विचारकर उसकी रक्षा करना चाहिये। जिस प्रकार मनुष्य मणि, मुक्ता आदिको दुर्लभ जानकर तत्परतासे उसकी रक्षा करते हैं उसी प्रकार बोधिको दुर्लभ जान उसकी रक्षा करना चाहिये। बोधि रत्नत्रयका नाम है। यह मनुष्योंके लिये दुर्लभ है। ग्यारहवें गुण-स्थानसे नीचे गिरे हुए मनुष्य अर्धपुद्गल परिवर्तन पर्यन्त अनेक भवोंमें घूमते रहते हैं और कोई रत्नत्रय रूप निधिको प्राप्त कर स्वात्मामें लीन रहने वाले मनुष्य अन्तर्मुहूर्तके भीतर शीघ्र ही मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं। परिणामोंकी यह विचित्रता छद्मस्थ जीव नहीं जान पाते। जहाँ सागरों प्रमाण आयु थी तथा सब साधन सुलभ थे ऐसी देवपर्याय-में तेरी विशाल भोगाकांक्षा पूर्ण नहीं हुई तो अल्पायु वाले मनुष्य पर्यायमें कैसे पूर्ण हो सकती है? अतः हे आत्मन्! तूं भोगोंसे विरक्त हो, स्वकीय आत्मामें ही रत—लीन हो जा ॥ १०४-११३ ॥

आगे धर्म भावनाका स्वरूप कहते हैं—

कान्तारे मार्गतो भ्रष्टं समुद्रे पतितं तथा।
दारिद्र्याब्धितले मग्नं शैलात्संपतितं नरम् ॥ ११४ ॥
रक्षितुं धर्मएवास्ति शक्तो नान्योऽत्र भूतले।
धर्मो मूलं त्रिवर्गस्य त्रिवर्गः सुखसाधनम् ॥ ११५ ॥
मूलस्य रक्षणं कार्यं मूलनाशे कुतः सुखम्।
आत्मनो यः स्वभावोऽस्ति स धर्मः प्रोच्यते बुधैः ॥ ११६ ॥
रत्नत्रये क्षमाद्याश्च धर्मशब्देन कीर्तिताः।
धर्मादेव मनुष्याणां जीवनं सफलं भवेत् ॥ ११७ ॥

धर्महीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः।
सम्यक्त्वमूलो धर्मोऽस्ति मूलं रक्ष्यं ततो नृभिः ॥ ११८ ॥

सम्यक्त्ववन्तो ये जीवा चारित्रं दधते परम्।
ते द्रुतं शिवमायान्ति स्थायिसौख्यसमन्वितम् ॥ ११९ ॥

ये नरा धर्ममाधृत्य भोगाकांक्षां धरन्ति च।
ते नूनं काचखण्डेन विक्रीणन्ति महामणिम् ॥ १२० ॥

भोगाकांक्षामहानद्यां वहमाना नराः सदा।
अन्ते निगोदनामानं महाब्धिं प्रविशन्ति वं ॥ १२१ ॥

दुर्लभं मानुषं लब्ध्वा धर्मेण सफलीकुरु।
समुद्रे पतितं रत्नं यथा भवति दुर्लभम् ॥ १२२ ॥

तथा गतं मनुष्यत्वं दुर्लभं ह्येव वर्तते।
विपद्ग्रस्तं नरं लोके धर्मो रक्षति रक्षितः ॥ १२३ ॥

अर्थ—वनमें मार्गसे भ्रष्ट, समुद्रमें पतित, दरिद्रतारूपी समुद्रके तलमें निमग्न और पर्वतसे गिरे हुए मनुष्यकी रक्षा करनेके लिए पृथिवीपर धर्म ही समर्थ है अन्य कोई नहीं। धर्म, त्रिवर्गका मूल है और त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ, काम-सुखका साधन है। अतः मूलकी रक्षा करना चाहिये क्योंकि मूलका नाश होनेपर सुख किससे हो सकता है? आत्माका जो स्वभाव है वही ज्ञानीजनों द्वारा धर्म कहा जाता है। रत्नत्रय और क्षमा आदिक भी धर्म शब्दसे कहे जाते हैं। धर्मसे ही मनुष्योंका जीवन सफल होता है। धर्महीन मनुष्य गन्धरहित टेसूके फूलके समान शोभित नहीं होते। धर्म, सम्यक्त्वमूलक है अतः मनुष्योंको मूलकी रक्षा करना चाहिये। जो सम्यग्दृष्टि मनुष्य उत्तम चारित्र धारण करते हैं वे शीघ्र ही शाश्वत सुखसे सहित मोक्षको प्राप्त होते हैं। जो मनुष्य धर्म धारण कर उसके बदले भोगोंकी आकांक्षा रखते हैं वे निश्चित ही काँचके टुकड़ेसे महामणिको बेचते हैं। निरन्तर भोगाकाङ्क्षारूपी महानदीमें बहने वाले मनुष्य अन्तमें निगोद नामक महासागरमें प्रवेश करते हैं। दुर्लभ मनुष्य पर्यायको प्राप्त कर उसे धर्मसे सफल करो। समुद्रमें पड़ा हुआ रत्न जिस प्रकार दुर्लभ होता है उसी प्रकार गया हुआ मनुष्य भव दुर्लभ है। रक्षा किया हुआ धर्म ही लोकमें विपत्तिग्रस्त मनुष्यकी रक्षा करता है ॥ ११४-१२३ ॥

आगे अनुप्रेक्षाधिकारका समापन करते हैं—

[1]भव्या इमा द्वादशभावना ये
स्थिरेण चित्तेन हि भावयन्ति ।
नैर्ग्रन्थ्यमुद्रापरिरक्षणे ते
शक्ता भवेयुर्नियमेन भव्याः ॥ १२४ ॥

अर्थ—जो भव्य पुरुष, स्थिर चित्तसे इन उत्तम बारह भावनाओंका चिन्तवन करते हैं वे नियमसे निर्ग्रन्थ मुद्राकी रक्षा करनेमें समर्थ होते हैं ॥ १२४ ॥

इस प्रकार सम्यक्-चारित्र-चिन्तामणिमें अनुप्रेक्षाओंका
वर्णन करने वाला अष्टम प्रकाश पूर्ण हुआ ।

नवम प्रकाश

ध्यान सामग्री

मङ्गलाचरणम्

ध्यानेन भित्त्वा भवबन्धनानि
रागादिदोषोग्रनिबन्धनानि ।
प्रापुः प्रियां मुक्तिमनस्विनीं ये
सिद्धान् विशुद्धान् सततं नुमस्तान् ॥ १ ॥

अर्थ—जो ध्यानके द्वारा रागादि दोषरूप तीव्र कारणोंसे मुक्त संसारके बन्धनोंको तोड़कर मुक्तिरूपी गौरवशालिनी प्रियाको प्राप्त कर चुके हैं, मैं विशुद्ध परिणामोंसे युक्त उन सिद्ध परमेष्ठियोंको बार-बार स्तुत करता हूँ ॥ १ ॥

अब चित्तकी स्थिरताके लिये ध्यानकी सामग्रीका वर्णन करते हैं—

अथ वक्ष्ये गुणस्थानं मार्गणासु यथाक्रमम् ।
ध्यान तत्त्वस्य सिद्ध्यर्थं यथाबुद्धि यथागमम् ॥ २ ॥

---

१. श्रेष्ठाः ।

नरकगतौ भवेदाद्यं गुणस्थानचतुष्टयम् ।
अपर्याप्ते न विद्येत द्वितीयं च तृतीयकम् ॥ ३ ॥
द्वितीयादिपृथिव्यां त्वपर्याप्ते प्रथमं मतम् ।
पर्याप्तेषु हि जायेत गुणधामचतुष्टयम् ॥ ४ ॥
तिर्यग्गतौ भवेदाद्यं गुणस्थानीयपञ्चकम् ।
अपर्याप्तेषु जायेत वर्जयित्वा तृतीयकम् ॥ ५ ॥
आद्यं चतुष्टयं ज्ञेयं भोगभूमिभवेषु वै ।
कर्मभूमिजतिर्यक्षु पर्याप्तेषु तु पञ्चकम् ॥ ६ ॥
अपर्याप्ते तृतीयं नो जातुचिदपि सम्भवेत् ।
कर्मभूमिजमर्त्येषु सर्वाण्यपि भवन्ति हि ॥ ७ ॥
अपर्याप्तेषु विज्ञेयमाद्यं चापि द्वितीयकम् ।
चतुर्थञ्च समुद्घातगतकेवलिनो मतम् ॥ ८ ॥
त्रयोदशं गुणस्थानं देवेष्वाद्यचतुष्टयम् ।
अपर्याप्तेषु विज्ञेयं तृतीयस्थानमन्तरा ॥ ९ ॥

अर्थ—अब आगे ध्यानतत्त्वकी सिद्धिके लिये यथाबुद्धि और यथागम मार्गणाओंमें गुणस्थानोंका कथन करूँगा। प्रथम ही गतिमार्गणाकी अपेक्षा कहते हैं—सामान्यरूपसे नरकगतिमें आदिके चार गुणस्थान होते हैं किन्तु अपर्याप्त नारकियोंके द्वितीय और तृतीय गुणस्थान नहीं होता [इसका कारण है कि तृतीय गुणस्थानमें मरण नहीं होता और द्वितीय गुणस्थानमें मरा जीव नरक नहीं जाता। यह प्रथम पृथिवीके अपर्याप्तकोंकी अपेक्षा कथन है]। द्वितीयादि पृथिवियोंके अपर्याप्तकोंके प्रथम गुणस्थान ही होता है क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवकी उनमें उत्पत्ति नहीं होती। पर्याप्तकोंके चार गुणस्थान होते हैं।

तिर्यञ्चगतिमें आदिके पाँच गुणस्थान होते हैं परन्तु अपर्याप्तकोंके तृतीय गुणस्थान नहीं होता। भोगभूमिज तिर्यञ्चोंमें आदिके चार गुणस्थान होते हैं परन्तु अपर्याप्तक अवस्थामें तृतीय गुणस्थान सम्भव नहीं है। कर्मभूमिज तिर्यञ्चोंमें पर्याप्तकोंके आदिके पाँच गुणस्थान हैं। परन्तु अपर्याप्तकोंके तृतीय गुणस्थान कभी नहीं होता।

मनुष्यगतिमें कर्मभूमिज मनुष्योंमें सभी चौदह गुणस्थान होते हैं। परन्तु अपर्याप्तकोंके प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ और समुद्घातगत केवलीकी अपेक्षा त्रयोदश—तेरहवाँ गुणस्थान होता है। भोगभूमिज मनुष्यों-

में आदिके चार गुणस्थान होते हैं परन्तु अपर्याप्तक अवस्थामें तृतीय गुणस्थान नहीं होता।

देवोंके आदिके चार गुणस्थान होते हैं परन्तु अपर्याप्तकोंमें तृतीय गुणस्थान नहीं होता॥ २-६॥

आगे इन्द्रिय और कायमार्गणाकी अपेक्षा वर्णन करते हैं—

एकेन्द्रिये तु विज्ञेयं तेजो वायुविवर्जिते।
आद्यद्वयं गुणस्थानमपर्याप्तदशायुते॥ १०॥
द्विहृषीकातसमारभ्या संज्ञिपञ्चेन्द्रियावधो।
गुणस्थानं भवेदाद्यं नान्यत्तत्र हि सम्भवेत्॥ ११॥
पञ्चेन्द्रियेषु सन्त्येव धामानि निखिलान्यपि।
स्थावरेषु भवेदाद्य-द्वयं नान्यत् प्रजायतेः॥ १२॥
त्रसेषु सन्ति सर्वाणि गुणधामानि निश्चयात्।

अर्थ—तेजस्कायिक और वायुकायिकको छोड़कर अन्य एकेन्द्रियोंके अपर्याप्तक दशामें आदिके दो गुणस्थान होते हैं। कारण यह है कि सासादन गुणस्थानमें मरा जीव यदि एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न हो तो तेजस्कायिक और वायुकायिकमें उत्पन्न नहीं होता। सासादन गुणस्थान अपर्याप्तक अवस्थामें हो रहता है। पर्याप्तक होते-होते सासादन गुणस्थान विघट जाता है। द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञो पञ्चन्द्रिय तक प्रथम गुणस्थान हो होता है अन्य गुणस्थान सम्भव नहीं हैं [द्वितोय गुणस्थानमें मरण कर विकलत्रयोंमें उत्पन्न होने वाले जीवोंके अपर्याप्तक अवस्थामें द्वितोय गुणस्थान भो सम्भव होता है]। पञ्चेन्द्रियोंमें सभो गुणस्थान होते हैं। स्थावरोंमें आदिके दो गुणस्थान सम्भव हैं अन्य नहीं। त्रसोंमें निश्चयसे सभो गुणस्थान होते हैं॥ १०-१२॥

आगे योग मार्गणाको अपेक्षा चर्चा करते हैं—

चतुर्षु चित्तयोगेषु वाग्योगेषु तथैव च॥ १३॥
गुणस्थानानि सन्त्यत्र प्रथमाद् यावद् द्वादशम्।
सत्यानुभययोगेषु वचोमानसयोस्तथा॥ १४॥
आद्यत्रयोदशज्ञेया गुणस्थानसमूहकाः।
ओरालमिश्रके बोध्यमाद्यं चापि द्वितीयकम्॥ १५॥
चतुर्थं चापि जोवानां सयोगे च त्रयोदशम्।
औदारिके तु बोध्यानि तान्याद्यानि त्रयोदश॥ १६॥

आहारके तन्मिश्रे च षष्ठमेकं भवेदिह।
वैक्रियिके भवेदाद्यं गुणस्थानचतुष्टयम् ॥ १७ ॥
तन्मिश्रे ननु विज्ञेयं तृतीयस्थानमन्तरा।
कार्मणे काययोगे च प्रथमं च द्वितीयकम् ॥ १८ ॥
चतुर्थं च समुद्घातगतकेवल्यपेक्षया।
त्रयोदशं भवेज्जातु समयत्रितयावधि ॥ १९ ॥

अर्थ—चार मनोयोगों और चार वचनयोगोंमें प्रथमसे लेकर द्वादश तक गुणस्थान होते हैं। सत्य मनोयोग और अनुभय मनोयोग तथा सत्य वचनयोग और अनुभय वचनयोगमें आदिके तेरह गुणस्थान होते हैं। औदारिक मिश्रकाययोगमें पहला, दूसरा, चौथा और कपाट समुद्घात गतसयोग केवलीकी अपेक्षा तेरहवाँ गुणस्थान होता है। औदारिक काययोगमें आदिके तेरह गुणस्थान जानना चाहिये। आहारक और आहारकमिश्र काययोगमें एक छठवाँ ही गुणस्थान होता है। वैक्रियिक काययोगमें आदिके चार गुणस्थान होते हैं परन्तु वैक्रियिक मिश्र काययोगमें तृतीय गुणस्थान नहीं होता और कार्मण काययोगमें पहला, दूसरा, चौथा और समुद्घात केवलीकी अपेक्षा तेरहवाँ गुणस्थान होता है। कार्मण काययोग अधिकसे अधिक तीन समय तक ही रहता है ॥ १३-१९ ॥

आगे वेद, कषाय और ज्ञान मार्गणामें गुणस्थानोंका वर्णन करते हैं—

आद्यानि स्युः सवेदानां नवधामानि भावतः।
द्रव्यस्त्रीणां तु विज्ञेयं प्रथमात्पञ्चमावधिः ॥ २० ॥
सकषायस्य जीवस्य दशधामानि सन्ति हि।
निष्कषायस्य बोध्यान्येकादशप्रभृतीनि वै ॥ २१ ॥
मतिश्रुतावधिज्ञाने चतुर्थाद्द्वादशावधिम्।
मनःपर्ययबोधे तु षष्ठाच्च द्वादशावधिम् ॥ २२ ॥
केवले च भवेदन्त्यं युगलं गुणधामकम्।
कुमतौ कुश्रुते ज्ञाने विभङ्गे च नियोगतः ॥ २३ ॥
प्रथमं द्वितयं ज्ञेयं गुणस्थानं शरीरिणाम्।

अर्थ—भाव वेदकी अपेक्षा सवेद जीवोंके आदिके नौ गुणस्थान होते हैं परन्तु द्रव्य स्त्रियोंके प्रथमसे लेकर पञ्चम तक गुणस्थान होते हैं। कषाय सहित जीवोंके प्रारम्भके दश गुणस्थान होते हैं और कषाय रहित जीवोंके एकादश आदि गुणस्थान होते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान

और अवधिज्ञानमें चतुर्थसे लेकर बारहवें तक गुणस्थान होते हैं। मनः-पर्यय ज्ञानमें षष्ठ गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक सात गुण-स्थान होते हैं। केवलज्ञानमें अन्तके दो गुणस्थान होते हैं। कुमति, कुश्रुत और विभङ्ग ज्ञानमें आदिके दो गुणस्थान होते हैं [तृतीय गुण-स्थानमें मिश्र ज्ञान होता है] ॥ २०-२३ ॥

आगे संयम मार्गणामें गुणस्थान कहते हैं—

सामायिके तथा छेदोपस्थापनसुसंयमे ॥ २४ ॥
षष्ठान्नवमपर्यन्तं गुणस्थानं भवेदिह ।
परिहारविशुद्धौ तु षष्ठं च सप्तमं स्मृतम् ॥ २५ ॥
सूक्ष्मादिसाम्पराये च दशमं ह्येकमेव तु ।
एकादशादितो ज्ञेयं यथाख्याताह्व संयमे ॥ २६ ॥
संयमासंयमे ह्येकं पञ्चमं धामसंमतम् ।
असंयमे तु चत्वारि प्रथमादीनि सन्ति हि ॥ २७ ॥

अर्थ—सामायिक और छेदोपस्थापन संयममें छठवेंसे लेकर नौवें तक गुणस्थान होते हैं। परिहार विशुद्धिमें छठवाँ और सातवाँ गुण-स्थान होता है। सूक्ष्मसांपरायमें एक दशम गुणस्थान ही होता है और यथाख्यात संयममें एकादश आदि गुणस्थान हैं। संयमासंयममें एक पञ्चम गुणस्थान और असंयममें प्रथमसे लेकर चतुर्थ तक चार गुण-स्थान होते हैं ॥ २४-२७ ॥

आगे दर्शन, लेश्या और भव्यत्व मार्गणामें गुणस्थान कहते हैं—

लोचनदर्शने चाप्यचक्षुर्दर्शन के तथा ।
आदितो द्वादशं यावत् गुणधामानि सन्ति वै ॥ २८ ॥
अवधिदर्शनं ज्ञेयं चतुर्थाद् द्वादशावधिम् ।
केवलदर्शने ज्ञेयमन्तिमद्वितयं तथा ॥ २९ ॥
कृष्णा नीला च कापोता प्रथमात् स्यात्तुर्यावधिम् ।
पीता पद्मा च विज्ञेया प्रथमात्सप्तमावधिम् ॥ ३० ॥
शुक्ला लेश्या च विज्ञेया ह्याद्याद् यावत् त्रयोदशम् ।
भव्यत्वे गुणधामानि भवन्ति निखिलान्यपि ॥ ३१ ॥
अभव्ये प्रथमं ज्ञेयं नियमाद् भववासिनि ।

अर्थ—चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शनमें प्रारम्भसे लेकर बारहवें गुण-स्थान तक बारह गुणस्थान होते हैं। अवधि दर्शनमें चतुर्थसे लेकर

बारहवें तक गुणस्थान होते हैं और केवल दर्शनमें अन्तके दो गुणस्थान माने जाते हैं। कृष्ण, नील और कापोत लेश्या प्रथमसे चतुर्थ गुणस्थान तक होती है। पीत और पद्म लेश्या प्रथमसे सप्तम तक होती है और शुक्ल लेश्या प्रथमसे तेरहवें गुणस्थान तक होती है। भव्यत्व मार्गणामें सभी गुणस्थान होते हैं परन्तु सदा संसारमें ही निवास करने वाली अभव्यत्व मार्गणामें नियमसे पहला ही गुणस्थान होता है॥ २८-३१॥

आगे सम्यक्त्व, संज्ञी और आहारक मार्गणामें गुणस्थान बताते हैं—

आद्योपशमसम्यक्त्वे क्षायोपशमिके तथा॥ ३२॥
चतुर्थात्सप्तमान्तानि गुणस्थानानि सन्ति वै।
क्षायिके तु चतुर्थादिनिखिलान्यपि भवन्ति हि॥ ३३॥
द्वितीयोपशमे ज्ञेयं तुर्यादेकादशावधिम्।
संज्ञिनि गुणधामानि भवन्ति द्वादशावधिम्॥ ३४॥
असंज्ञिनि भवेदाद्यं केवलिनोर्नास्ति तद् द्वयम्।
अनाहारे भवेदाद्यं द्वितीयं च चतुर्थकम्॥ ३५॥
चतुर्दशं च विज्ञेयमाहारस्य निरोधतः।
आहारके तु बोध्यानि ह्याद्यान्येव त्रयोदश॥ ३६॥
इत्थं च मार्गणास्थाने गुणस्थाननिदर्शनम्।
संक्षेपाद्विहितं चिन्त्यं ध्यानस्थेन सुयोगिना॥ ३७॥
एवं चिन्तयश्चित्तं विषयेभ्यो निवर्तते।
निर्जरा विपुला च स्यात् कर्मणां दुःखदायिनाम्॥ ३८॥

अर्थ—प्रथमोपशम सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें चतुर्थसे लेकर सप्तम तक गुणस्थान होते हैं। क्षायिक सम्यग्दर्शनमें चतुर्थसे लेकर सभी गुणस्थान हैं और द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें चतुर्थसे लेकर एकादश तक गुणस्थान होते हैं [सम्यक्त्व मार्गणाके भेद सम्यग्मिथ्यात्वमें तृतीय, सासादनमें द्वितीय और मिथ्यात्वमें प्रथम गुणस्थान जानना चाहिये]। संज्ञी मार्गणामें प्रथमसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक बारह और असंज्ञी मार्गणामें प्रथम गुणस्थान ही होता है [सासादन गुणस्थानमें मरकर एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके अपर्याप्तक दशामें दूसरा गुणस्थान भी सम्भव है]। केवली भगवान्के संज्ञी और असंज्ञीका व्यवहार नहीं होता है। अनाहारक मार्गणामें पहला, दूसरा, चौथा और चौदहवाँ गुणस्थान होता है [समुद्घातकी अपेक्षा तेरहवाँ गुणस्थान भी होता है]। आहारक मार्गणामें आदिके तेरह

गुणस्थान जानना चाहिये। इस प्रकार मार्गणा स्थानोंमें गुणस्थानोंका निर्देश संक्षेपसे किया है। ध्यानस्थ मुनिको इसका चिन्तवन करना चाहिये। ऐसा चिन्तवन करने वाले योगीका चित्त विषयोंसे हट जाता है और उससे दुःखदायक कर्मोंको अत्यधिक निर्जरा होती है॥ ३२-३८॥

अब आगे मार्गणाओंमें सम्यग्दर्शनका वर्णन करते हैं—

इतोऽग्रे मार्गणामध्ये सम्यग्दर्शनमुच्यते।
श्वभ्रगत्यनुवादेन प्रथमायां क्षितौ भवेत्॥ ३९॥
पर्याप्तकेषु सम्यक्त्वभेदानां त्रितयं पुनः।
अपर्याप्तकेषु विज्ञेयमौपशमिकमन्तरा॥ ४०॥
आद्येतरासु पृथ्वीषु पर्याप्तानां भवेद्द्वयम्।
क्षायिकं तत्र नास्त्येवापर्याप्तेषु न किञ्चन॥ ४१॥
तिर्यग्गत्यनुवादेन तिरश्चां भोगभूमिषु।
पर्याप्तानां भवेद् भेदत्रयं भव्यत्व शालिनाम्॥ ४२॥
अपर्याप्तेषु विज्ञेयमौपशामिकमन्तरा।
कर्मभूमिजतिर्यक्षु क्षायिकेण विना भवेत्॥ ४३॥
द्वयं सम्यक्त्वभेदानां पर्याप्तत्वविशुम्भताम्।
अपर्याप्तेषु नास्त्ये सम्यग्दर्शनसौरभम्॥ ४४॥
पर्याप्तेषु मनुष्येषु त्रिविधा वर्तते सुदृक्।
अपर्याप्तेषु नास्त्येव मोहोपशमजा सुदृक्॥ ४५॥
पूर्णासुद्रव्यनारीषु क्षायिकी दृग् न वर्तते।
अपूर्णद्रव्यभामासु गन्धोऽपि न दृशो भवेत्॥ ४६॥
देवगत्यनुवादेन देवेषु द्विविधेष्वपि।
अपर्याप्तासु नास्त्येव सम्यग्दर्शनसौरभम्॥ ४७॥
वानादिदेवदेवीषु पर्याप्तासु भवेद्द्वयम्।
अपर्याप्तासु सम्यक्त्व-भेदो नास्त्येष कश्चन॥ ४८॥

अर्थ—यहाँसे आगे मार्गणाओंमें सम्यग्दर्शन कहा जाता है अर्थात् किस-किस मार्गणामें कौन-कौन सम्यग्दर्शन होता है, यह कहते हैं। नरकगतिकी अपेक्षा प्रथम पृथिवीमें पर्याप्तक नारकियोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं परन्तु अपर्याप्तक नारकियोंके औपशमिक सम्यग्दर्शन नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि प्रथम पृथिवी तक सम्यग्दृष्टि जा सकता है परन्तु औपशमिक सम्यग्दृष्टि मरकर देवगतिके सिवाय अन्य गतियोंमें नहीं जाता, इसलिये यहाँ उसका अभाव बतलाया है।

द्वितीयादिक पृथिवियोंमें पर्याप्तकोंके क्षायिकके बिना दो सम्यक्त्व हो सकते हैं परन्तु अपर्याप्तकोंके एक भी सम्यग्दर्शन नहीं होता।

तिर्यग्गतिकी अपेक्षा भोगभूमिमें पर्याप्तक भव्य तिर्यञ्चोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं परन्तु अपर्याप्तकोंके औपशमिक सम्यक्त्व नहीं होता। कर्मभूमिज पर्याप्तक तिर्यञ्चोंमें क्षायिकके बिना दो सम्यक्त्व होते हैं परन्तु अपर्याप्तकोंके सम्यग्दर्शनकी सुगन्ध नहीं रहती। तात्पर्य यह है कि जिसने तिर्यगायुका बन्ध करनेके बाद सम्यक्त्व प्राप्त किया है ऐसा मनुष्य नियमसे भोगभूमिका ही तिर्यञ्च होता है, कर्मभूमिका नहीं। अतः कर्मभूमिके अपर्याप्तक तिर्यञ्च सम्यक्त्वका अभाव रहता है। पर्याप्तक अवस्थामें औपशमिक और क्षायोपशमिक नवीन उत्पन्न हो सकते हैं, इसलिये उनका सद्भाव बताया है।

पर्याप्तक मनुष्योंमें तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, परन्तु अपर्याप्तक मनुष्योंके औपशमिक सम्यग्दर्शन नहीं होता है। पर्याप्तक द्रव्य-स्त्रियोंके क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता, नवीन उत्पत्तिकी अपेक्षा शेष दो होते हैं परन्तु अपर्याप्तक स्त्रियोंके सम्यग्दर्शनका लेश भी नहीं होता है उसका कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीव द्रव्य-स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं होता।

देवगतिकी अपेक्षा पर्याप्तक-अपर्याप्तक—दोनों प्रकारके भव्य देवोंमें तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। इसका कारण है कि द्वितीयोपशममें मरा जीव वैमानिक देवोंमें उत्पन्न होता है। अतः अपर्याप्तक अवस्थामें भी औपशमिकका सद्भाव सम्भव है। पर्याप्तक देवियोंमें क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता, नवीन उत्पत्तिकी अपेक्षा शेष दो सम्भव हैं। अपर्याप्तक देवियोंके सम्यग्दर्शनकी गन्ध नहीं है। भवनत्रिक सम्बन्धी पर्याप्तक देव-देवियोंके नवीन उत्पत्तिकी अपेक्षा औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं, अपर्याप्तकोंके सम्यग्दर्शनका कोई भेद नहीं होता क्योंकि सम्यग्दृष्टिकी उनमें उत्पत्ति नहीं होती॥ ३९-४८॥

आगे इन्द्रिय, काय, योग, वेद और ज्ञानमार्गणाकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनका वर्णन करते हैं—

एकेन्द्रियात्समारभ्या संज्ञिपञ्चाक्षदेहिषु।
नास्त्येकमपि सम्यक्त्वं योगत्येन युतेषु वै॥ ४९॥
पञ्चेन्द्रियेषु जायेत सम्यक्त्वत्रितयं पुनः।
स्थावरेषु च सम्यक्त्वं विद्यते नात्र किञ्चन॥ ५०॥
त्रसेषु त्रिविधं ज्ञेयं सम्यक्त्वं पुण्यशालिषु।
योगत्रयेण युक्तेषु सम्यक्त्वत्रितयं भवेत्॥ ५१॥

अयोगेषु भवेदेकं क्षायिकं नेतरत्तु तत्।
एकद्वियोग युक्तेषु सम्यक्त्वं नास्ति किञ्चन ॥ ५२ ॥
वेदत्रयेण युक्तेषु जायते त्रिविधं तु तत्।
भावतो, न तु द्रव्यस्त्री क्षायिकं लभते क्वचित् ॥ ५३ ॥
गतवेदेषु जायेत द्वितयं वेदकं विना।
क्षीणमोहादिषु ज्ञेयं केवलं क्षायिकं तु तत् ॥ ५४ ॥
क्षायोपशमिकज्ञानचतुष्केण विशोभिषु।
त्रयः सम्यक्त्वभेदाः स्युः, क्षायिकज्ञानशालिषु ॥ ५५ ॥
केवलिषु भवेदेकं क्षायिकं नेतरत्पुनः।
मनःपर्यययुक्तेषु शमजं नैव जायते ॥ ५६ ॥

अर्थ—इन्द्रियानुवादकी अपेक्षा खोटी गतिसे युक्त, एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तकके जीवोंके एक भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। पञ्चेन्द्रिय जीवोंमें तीनों सम्यक्त्व होते हैं। कायमार्गणाकी अपेक्षा स्थावरोंमें कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता परन्तु पुण्यशाली त्रसोंमें तीनों प्रकारका सम्यक्त्व होता है। योगमार्गणाकी अपेक्षा तीनों योगोंसे युक्त जीवोंमें तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, अयोगियोंके एक क्षायिक ही होता है अन्य दो नहीं होते। एक योग वाले—स्थावरोंके और दो योग वाले—द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तकके जीवोंको कोई भी सम्यक्त्व नहीं होता। वेदमार्गणाकी अपेक्षा तीनों भाव वेदोंसे युक्त जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं परन्तु द्रव्य-स्त्री कहीं भी क्षायिक सम्यक्त्वको प्राप्त नहीं होती। अपगत वेदी जीवोंके क्षायोपशमिक को छोड़कर औपशमिक और क्षायिक, ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं परन्तु अपगत वेदियोंमें जो क्षीणमोहादि गुणस्थानवर्ती हैं उनको एक क्षायिक ही जानना चाहिये। ज्ञानमार्गणाकी अपेक्षा चार क्षायोपशमिक ज्ञानोंसे सहित जीवोंके सम्यक्त्वके तीनों भेद होते हैं परन्तु क्षायिक ज्ञानसे सुशोभित केवलियोंके एक क्षायिक सम्यक्त्व ही होता है शेष दो नहीं। क्षायोपशमिक ज्ञानों में मनःपर्ययज्ञानसे युक्त जीवोंके औपशमिक सम्यग्दर्शन नहीं होता ॥ ४९-५६ ॥

आगे संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार-मार्गणाकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनका कथन करते हैं—

सामायिके तथा छेदोपस्थापन विशोभिते।
त्रयः सम्यक्त्वभेदाः स्युरात्म पौरुषशालिनाम् ॥ ५७ ॥

परिहारविशुद्धयाढ्ये शमजं नास्ति सर्वथा।
सूक्ष्मादि साम्पराये तु वेदकं नैव विद्यते॥ ५८॥
यथाख्याते तु विज्ञेयं क्षायिकं शमजं तथा।
केवलदर्शनाढ्येषु केवलं क्षायिकं भवेत्॥ ५९॥

अन्यदर्शन युक्तेषु त्रिविधमपि सम्भवेत्।
सलेश्यानां त्रयो भेदा अलेश्यानां तु क्षायिकम्॥ ६०॥
त्रिविधं जायते भव्ये त्वभव्ये नास्ति किञ्चन।
सम्यक्त्वानुवादेन वर्तते यत्र या भिदा॥ ६१॥

तत्रैव सा परिज्ञेया सिद्धान्तानुगमोद्यतैः।
सम्यक्त्वस्य त्रयो भेदाः संज्ञिनां देहधारिणाम्॥ ६२॥
जायन्तेऽसंज्ञिनां किन्तु ह्येकं नापि प्रजायते।
आहारकेऽप्यनाहारे त्रयो भेदा भवन्ति हि॥ ६३॥

शमजं किन्त्वनाहारे निर्जरगत्यपेक्षया।
शमजेन युतो मृत्वा देवेष्वेवोपजायते॥ ६४॥

अर्थ—संयममार्गणाकी अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना संयमसे सहित आत्मपुरुषार्थी जीवोंके सम्यक्त्वके तीनों भेद होते हैं परन्तु परिहारविशुद्धि वालेके औपशमिक सम्यग्दर्शन नहीं होता। सूक्ष्मसाम्पराय संयममें वेदक सम्यग्दर्शन नहीं होता। यथाख्यातसंयम में क्षायिक और औपशमिकसम्यग्दर्शन जानना चाहिये। दर्शनमार्गणा की अपेक्षा केवल दर्शनसे युक्त मनुष्योंके मात्र क्षायिकसम्यक्त्व होता है शेष तीन दर्शनोंसे सहित जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। लेश्या-मार्गणा की अपेक्षा सलेश्यजीवोंके तीनों भेद होते हैं, परन्तु अलेश्य—लेश्या रहित जीवोंके मात्र क्षायिकसम्यक्त्व होता है। भव्यत्वमार्गणा की अपेक्षा भव्यजीवके तीनों सम्यक्त्व होते हैं पर अभव्य के एक भी नहीं होता। सम्यक्त्वमार्गणाकी अपेक्षा जहाँ जो भेद है सिद्धान्त-शास्त्रके जाननेमें उद्यत मनुष्योंको वहाँ वही भेद जानना चाहिये। संज्ञी मार्गणाकी अपेक्षा संज्ञी जीवके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं किन्तु असंज्ञीजीवके एक भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहारकमार्गणाकी अपेक्षा आहारक और अनाहारक—दोनों प्रकारके जीवोंके सम्यग्दर्शनके तीनों भेद होते हैं परन्तु अनाहारक अवस्थामें औपशमिकसम्यग्दर्शन देवगति की अपेक्षा ही जानना चाहिये क्योंकि औपशमिकसम्यग्दर्शन के साथ मरा जीव देवोंमें ही उत्पन्न होता है॥ ५७-६४॥

आगे इस प्रकरणका समारोप करते हैं—

एवं सर्वं चिन्तयन्तः पुमांस-
श्चिन्ताकाले स्वीयचित्तं समन्तात्।
पञ्चाक्षाणां दीर्घदुःखप्रदानां
द्वन्द्वाद् दूरीकृत्य सुस्था भवन्ति॥ ६५॥

अर्थ—इस प्रकार इस सबका चिन्तन करने वाले पुरुष चिन्तनके कालमें अपने मन को अत्यधिक दुःख देनेवाले पञ्चेन्द्रियोंके द्वन्द्व—इष्टानिष्ट विकल्प को दूरकर सुखी होते हैं॥ ६५॥

इस प्रकार सम्यक्-चारित्र-चिन्तामणिमें ध्यान सामग्रीका
वर्णन करने वाला नवम प्रकाश पूर्ण हुआ।

दशमप्रकाशः

आर्यिकाणां विधिनिर्देशः

मंगलाचरणम्

नाहं क्लीबो नैव भामा पुमांश्च
नाहं गौरो नैव कृष्णो न पीतः।
एते सर्वे सन्ति देहप्रपञ्चा-
स्तेभ्यो भिन्नः शुद्धचिन्मात्रमात्मा॥ १॥
एवं ध्यात्वा ये स्वरूपे निलीना
रागद्वेषाद् ये विरक्ताश्च जाताः।
तान् निर्ग्रन्थान् मोहमायाध्यतीतान्
भूयोभूयो भूरिशः संनमामि॥ २॥

अर्थ—मैं नपुंसक नहीं हूँ, मैं स्त्री नहीं हूँ, मैं पुरुष नहीं हूँ, मैं गोरा नहीं हूँ, मैं काला नहीं हूँ और मैं पीला नहीं हूँ। ये सब शरीर के प्रपञ्च हैं। आत्मा इन सबसे भिन्न शुद्ध चैतन्य मात्र है। ऐसा ध्यान कर जो स्वरूप में लीन हैं और जो राग-द्वेषसे विरक्त हो चुके हैं, मोह मायासे रहित उन निर्ग्रन्थ मुनियों को मैं बार-बार अत्यधिक नमस्कार करता हूँ॥ १-२॥

आगे आर्यिकाओंको विधिका वर्णन करते हैं—

अथार्याणां विधिं वक्ष्ये भामानां हितसिद्धये।
यथागमं यथाबुद्धि प्रणिपत्य मुनीश्वरान् ॥ ३ ॥
जीवाः सम्यक्त्वसंपन्ना मृत्वा नार्यो भवन्ति नो।
तथापि ताः स्वयं शुद्धया लभन्ते सुदृशं पराम् ॥ ४ ॥
सीता सुलोचना राजी मत्याद्या बहवः स्त्रियः।
विधृत्यार्याव्रतं नूनं प्रसिद्धाः सन्ति भूतले ॥ ५ ॥

अर्थ—अब स्त्रियोंके हितकी सिद्धिके लिये मुनिराजों को नमस्कार कर मैं आगम और अपनी बुद्धिके अनुसार आर्यिकाओंकी विधि कहूंगा। यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्रियों में उत्पन्न नहीं होते अर्थात् स्त्री पर्याय प्राप्त नहीं करते तथापि भावशुद्धिसे वे स्त्रियाँ स्वयं उत्कृष्ट, औपशमिक अथवा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेती हैं। सीता, सुलोचना और राजीमती आदि बहुत स्त्रियाँ आर्यिकाके व्रत धारणकर निश्चित ही भूतल पर प्रसिद्ध हुई हैं ॥ ३-५ ॥

अब आगे कुछ निकट भव्यस्त्रियां श्री गुरुके पास जाकर आर्यिका-दीक्षाकी प्रार्थना करती हैं—

काश्चन क्षीण संसारा विरक्ता गृहभारतः।
विरज्य भवभोगेभ्यो गुरु पादान् समाश्रिताः ॥ ६ ॥
निवेदयन्ति तान् भक्त्या भीताः स्मो भवसागरात्।
हस्तावलम्बनं दत्त्वा भगवंस्तारय द्रुतम् ॥ ७ ॥
न सन्ति केचनास्माकं न वयं नाथ कस्यचित्।
इमे संसारसम्भोगा भान्ति नो नागसन्निभाः ॥ ८ ॥
एषो विष प्रभावेण चिरात् सम्मूर्च्छिता वयम्।
अद्यावधि न विज्ञातं स्वरूपं हा निजात्मनः ॥ ९ ॥
ज्ञातादृष्टस्वभावाः स्मो देहाद् भिन्नस्वरूपकाः।
एतद् विस्मृत्य सर्वेषु भ्रान्ताः स्वत्वधिया चिरात् ॥ १० ॥
पुण्योदयात्परं ज्योतिः सम्यक्त्वं मार्गदर्शकम्।
अस्माभिर्लब्धमस्त्यत्र पश्यामस्तेन शाश्वतम् ॥ ११ ॥
आत्मानं सुखसम्पन्नं ज्ञानदर्शनसंयुतम्।
एतल्लब्ध्या वयं तृप्ताः सततं स्वात्मसम्पदि ॥ १२ ॥
अतो विरज्य भोगेभ्यो भवदन्तिकमागताः।
प्रार्थयामो वयं भूयो भूयो दीक्षां प्रदेहि नः ॥ १३ ॥

बाष्पावरुद्धकण्ठास्ता रोमाञ्चितकलेवराः ।
शुश्रूषवो गुरोर्वाक्यं तूष्णींभूताः पुरः स्थिताः ॥ १४ ॥

अर्थ—जिनका संसार क्षीण हो गया है तथा जो गृहभारसे विरक्त हो चुकी हैं ऐसी कुछ स्त्रियां संसार सम्बन्धी भोगों से विरक्त हो गुरु चरणोंके पास जाकर उनसे भक्तिपूर्वक निवेदन करती हैं—हे भगवन् ! हम संसार सागरसे भयभीत हैं अतः हस्तावलम्बन देकर शीघ्र ही तारो-पार करो। हमारे कोई नहीं हैं और हम भी किसीके कोई नहीं हैं। ये संसारके भोग हमें नागके समान प्रतिभासित होते हैं। इनके विष प्रयोगसे हम चिरकालसे मूर्च्छित हो रही हैं। खेद है कि हमने आज तक अपनी आत्माका स्वरूप नहीं जाना। हम शरीरसे भिन्न ज्ञाता, द्रष्टा स्वभाव वाली हैं। यह भूलकर हम सब पदार्थोंमें आत्मबुद्धि होनेके कारण चिरकालसे भटकती आ रही हैं। पुण्योदयसे हमने मार्गदर्शक सम्यक्त्वरूपी उत्कृष्ट ज्योति को प्राप्त कर लिया है। उस ज्योतिसे हम नित्य, सुख संपन्न तथा ज्ञानदर्शनसे सहित आत्मा को देख रही हैं—उसका अनुभव कर रही हैं। इस सम्यक्त्व की प्राप्तिसे हम निरन्तर अपनी आत्मसम्पदामें संतुष्ट रहती हैं। अतः भोगोंसे विरक्त होकर आपके पास आई हैं तथा बार-बार प्रार्थना करती हैं कि हमें आर्यिकाकी दीक्षा दीजिये। यह कहते कहते जिनके कण्ठ वाष्पसे अवरुद्ध हो गये थे तथा शरीर रोमाञ्चित हो उठा था, ऐसी वे स्त्रियां गुरु वचन सुनने की इच्छा रखती हुई उनके सामने चुपचाप बैठ गईं ॥ ६-१४ ॥

आगे गुरुने क्या कहा, यह लिखते हैं—

तासां मुखाकृतिं दृष्ट्वा परीक्ष्य भव्यभावनाम् ।
गुरुराह परप्रीत्या श्रेयोऽस्तु भवदात्मनाम् ॥ १५ ॥
आर्यादीक्षां गृहीत्वा भो निर्वृता भवतद्रुतम् ।
संसाराब्धिरयं सत्यं दुःखदो देहधारिणाम् ॥ १६ ॥
विरला एव सन्तीर्णा भवन्त्यस्मात् स्वपौरुषात् ।
सत्यं क्षीणभवा यूयं विरक्तास्तेन भोगतः ॥ १७ ॥

अर्थ—उनकी मुखाकृति देख तथा भव्य भावना की परीक्षा कर श्री गुरु बड़ी प्रीतिसे बोले—आप सबकी आत्माका कल्याण हो। आप लोग आर्यिकाकी दीक्षा लेकर शीघ्र ही संतुष्ट होवें। सचमुच ही यह संसार सागर प्राणियों को दुःख देने वाला है। बिरले ही जीव अपने

पुरुषार्थसे इस संसार सागरसे पार होते हैं। यथार्थमें आपका संसार क्षीण हो गया है इसीलिये भोगोंसे विरक्ति हुई है ॥ १५-१७ ॥

आगे श्री गुरु उन्हें आर्यिकाके व्रत का उपदेश देते हैं—

महाव्रतानि सन्धत्त समितीनां च पञ्चकम् ।
पञ्चेन्द्रियजयः कार्यः षडावश्यकपालनम् ॥ १८ ॥
विधिना नित्यशः कार्यं न कुर्याद् दन्तधावनम् ।
एकवारं दिवाभोज्यमुपविश्य सुखासनात् ॥ १९ ॥
हस्तयोरेवभोक्तव्यं न तु धात्वादिभाजने ।
शुभ्रैकाशाटिका धार्या मिताषोडशहस्तकैः ॥ २० ॥
भूमिशय्या विधातव्या रजन्याश्चोर्ध्वभागके ।
कचानां लुञ्चनं कार्यं स्वहस्ताभ्यां नियोगतः ॥ २१ ॥
मासद्वयेन मासैस्तु त्रिभिर्मासचतुष्टयात् ।
गणिन्या सहकर्त्तव्यो निवासो रक्षितस्थले ॥ २२ ॥
चर्यार्थं सहगन्तव्यं नगरे निगमे तथा ।
अन्याभिः सह साध्वीभिः श्रावकाणां गृहेषु वै ॥ २३ ॥
एकाकिन्या विहारो न कर्तव्यो जातुचित् क्वचित् ।
आचार्याणां समीपेऽपि न गच्छेदेकमात्रका ॥ २४ ॥
गणिन्या सार्धमन्याभिर्द्वित्राभिर्वा सह व्रजेत् ।
सप्तहस्तान्तरे स्थित्वा विनयेनोपविश्य वा ॥ २५ ॥
प्रश्नोत्तराणि कार्याणि सार्धमन्यतपस्विभिः ।
गृहिणीजनसम्पर्को न कार्यो विकथाकृते ॥ २६ ॥
जिनवाणीसमभ्यासे कार्यः कालस्य निर्गमः ।
काले सामायिकं कार्यं स्वाध्यायः समये तथा ॥ २७ ॥
पादयात्रैव कर्तव्या न जातु वाहनाश्रयः ।
अग्नेः सन्तापनं शीते न चौष्ण्ये जलसेचनम् ॥ २८ ॥
कार्यं विहार काले च पादत्राणं न धारयेत् ।
इदमार्याव्रतं प्रोक्तं भवतीनां पुरो मया ॥ २९ ॥

अर्थ—महाव्रत धारण करो, पांच समितियों का पालन करो, पञ्चेन्द्रियविजय करो, पदके अनुरूप नित्य ही विधिपूर्वक षडावश्यकका पालन करो, दन्त धावन न करो, दिनमें एक बार सुखासन—पालथीसे बैठकर हाथोंमें भोजन करो, धातु आदिके पात्रोंमें भोजन नहीं करो, सोलह हाथ की एक सफेद साटी धारण करो, रात्रिके उत्तरार्धमें

जमीन पर शयन करो। दो माह, तीन माह अथवा चार माहमें नियमसे अपने हाथोंसे केश लोंच करो। तुम्हें गणिनीके साथ सुरक्षित स्थानमें निवास करना चाहिये। चर्या–आहारके लिये नगर अथवा ग्राममें अन्य आर्यिकाओंके साथ श्रावकोंके घर जाना चाहिये। कभी भी और कहीं भी अकेली विहार नहीं करना चाहिये, आचार्योंके पास भी अकेली नहीं जाना चाहिये। गणिनी या अन्य दो तीन आर्यिकाओंके साथ जाना चाहिये। विनयसे सात हाथ दूर बैठकर अन्य साधुओंके साथ प्रश्नोत्तर करना चाहिये। विकथा करनेके लिये गृहस्थ स्त्रियोंका संपर्क नहीं करना चाहिये। जिन वाणीके अभ्यासमें समय व्यतीत करना चाहिये। समय पर सामायिक और समय पर स्वाध्याय करना चाहिये। विहार के समय पैदल यात्रा ही करना चाहिये। सवारीका आश्रय कभी नहीं करना चाहिये। शीतकालमें अग्नि का तापना और ग्रीष्मकालमें पानीका सींचना नहीं करना चाहिये और चलते समय पादत्राण नहीं रखना चाहिये। आप लोगोंके सामने मैंने यह आर्यिकाके व्रतका वर्णन किया है ॥ १८-२९ ॥

आगे क्षुल्लिकाके व्रतका वर्णन करते हैं—

एतस्य धारणे शक्तिर्नचेद् वो वर्तते क्वचित् ।
शाटिकोपरि सन्धार्य एकोत्तरपटस्ततः ॥ ३० ॥
आर्यिकाणां व्रतं नूनं तुल्यमस्ति महाव्रतैः ।
अतस्ताः योग्यमानेन प्रतिग्राह्याः सुदातृभिः ॥ ३१ ॥
क्षुल्लिकाणां व्रतं किन्तूत्तमश्रावकसन्निभम् ।
गुणस्थानं तु विज्ञेयं पञ्चमं द्विकयोरपि ॥ ३२ ॥

अर्थ—इस आर्यिका व्रतके धारण करनेमें यदि कहीं तुम्हारी शक्ति नहीं हो तो धोतीके ऊपर एक चादर धारण किया जा सकता है। सचमुच आर्यिकाका व्रत महाव्रतोंके तुल्य है अर्थात् उपचारसे महाव्रत कहा जाता है। अतः दान-दाताओं को उन्हें उनके पदके योग्य सन्मानसे पडिगाहना चाहिये। क्षुल्लिकाओंका व्रत उत्तम श्रावक—ग्यारहवीं प्रतिमाके धारकके समान है। आर्यिका और क्षुल्लिका दोनोंके पञ्चम गुणस्थान जानना चाहिये ॥ ३०-३२ ॥

आगे श्री गुरुकी वाणी सुनकर उन स्त्रियोंने क्या किया, यह कहते हैं—

इत्थमाचार्य वक्त्रेन्दु निःसृतां वचनावलीम् ।
सुधाधारायमाणां तां पीत्वाह्याप्यायिताश्चिरम् ॥ ३३ ॥

गृहीत्वार्याव्रतं सद्यो जाताः शान्तिसुमूर्तयः ।
शुभ्रैकवसनाः साध्व्यो मुखविभ्रमवर्जिताः ॥ ३४ ॥
वात्सल्यमूर्तयः सन्ति सत्त्व रक्षणतत्पराः ।
सीताद्या राजमत्याद्याश्चन्दनाद्याश्च साध्विकाः ॥ ३५ ॥
विहरन्तु चिरं लोके कुर्वाणा धर्मदेशनाम् ।
आत्मश्रेयः पथं नृणां दर्शयन्त्यः सनातनम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—इस प्रकार आचार्य महाराजके मुखचन्द्रसे निकली, अमृत धाराके समान आचरण करने वाली वचनावलीको पीकर—श्रवण कर वे सब स्त्रियां चिरकालके लिये संतुष्ट हो गईं। वे सब आर्यिकके व्रत ग्रहण कर शान्ति को मूर्तियां बन गईं। जो सफेद रंगकी एक साड़ी धारण करती हैं, मुखके विभ्रम-हावभाव आदिसे रहित हैं, वात्सल्यकी प्रतिकृति स्वरूप हैं और जीवरक्षामें तत्पर रहती हैं ऐसी सीता आदि, राजी मती आदि और चन्दना आदि आर्यिकाएँ धर्म-देशना करतीं तथा मनुष्योंके लिये आत्म-कल्याण का सनातन मार्ग दिखलाती हुई लोकमें चिरकाल तक विहार करें ॥ ३३-३६ ॥

विशेष—आर्यिकाओंका विशद वर्णन मूलाचारमें दिया गया है वहाँ बताया गया है कि आर्यिकाओंको वयस्क, जितेन्द्रिय तथा भव-भ्रमण भीरु आचार्यको ही गुरु बनाना चाहिये तथा उनकी आज्ञानुसार वयस्क, वृद्ध आर्यिकाओंको साथमें रहना चाहिये। अकेली विहार नहीं करना चाहिये।

आगे इस प्रकरण का समारोप करते हैं—

याभिस्त्यक्ता मोहनिद्रा विशाला
याभ्योजाता नेमिपार्श्वादयस्ताः ।
देवीतुल्यास्तीर्थकृन्मातृतुल्याः
साध्व्यो मे स्युर्मोक्षमार्गप्रणेत्र्यः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिन्होंने मोहरूपी विशाल निद्राका त्याग किया है, जिनसे नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ आदि महापुरुष उत्पन्न हुए हैं, जो देवीके समान तथा तीर्थङ्करोंकी माताओंके समान हैं वे साध्वी—आर्यिकाएँ मेरे लिए मोक्षमार्ग पर ले जाने वाली हों ॥ ३७ ॥

इस प्रकार सम्यक्-चारित्र-चिन्तामणिमें आर्यिका व्रतका वर्णन करनेवाला दशम प्रकाश पूर्ण हुआ।

एकादशप्रकाशः

सल्लेखनाधिकार

मङ्गलाचरणम्

सल्लेखनां स्वात्महिताय धृत्वा
मुनीन्द्रमार्गाद् विचला न जाताः।
मुनीश्वरास्तेऽद्य सुकोशलाद्या
दिशन्तु मां स्वात्महितस्य मार्गम् ॥ १ ॥

अर्थ—जो स्वकीय आत्माके हितके लिये सल्लेखना धारणकर मुनिराजके मार्गसे विचलित नहीं हुए, वे सुकोशल आदि मुनिराज मुझे आत्म-कल्याण का मार्ग बतावें ॥ १ ॥

आगे सल्लेखना की उपयोगिता बताते हैं—

यथा कश्चिद् विदेशस्थो [1]नार्जयन् विपुलं धनम्।
आयियासुः स्वकं देशं विदेशस्य नियोगतः ॥ २ ॥
तद्धनं सार्धमानेतुं समर्थो नैव जायते।
तदा संक्लिष्टचेताः सन् हृदये बहु खिद्यते ॥ ३ ॥
तथायं मनुजः स्वस्य प्रयत्नात् सञ्चितार्थकः।
प्रयियासुः परं लोकमेतल्लोकनियोगतः ॥ ४ ॥
तद्धनं सह सन्नेतुमसमर्थो यदा भवेत्।
तदा दुःखेन सन्तप्तो विरौति किं करोम्यहम् ॥ ५ ॥
अनुभूय महाकष्टं वित्तमेतदुपार्जितम्।
सार्धं नेतुं न शक्नोमि प्रयासो मम निष्फलः ॥ ६ ॥
विलपन्तं नरं दृष्ट्वा करुणाक्रान्तमानसः।
विदेशस्याधिपः कश्चित् तस्मै ददाति पत्रकम् ॥ ७ ॥
एतत्पत्रं गृहीत्वा त्वं प्रयाहि स्वीयपत्तनम्।
एतद्वित्तं त्वया तत्रावश्यं प्राप्तं भविष्यति ॥ ८ ॥
एवं दयालुराचार्यः परलोकं यियासवे।
सल्लेखनाह्वयं पत्रं दत्वा वदति भूरिशः ॥ ९ ॥
एतत्पत्र प्रभावेण त्वमेतन्निखिलं धनम्।
परलोके नियोगेन प्राप्स्यस्येव न संशयः ॥ १० ॥
तात्पर्यमिदमेवात्र ह्येतल्लोकस्य वैभवम्।
परलोके निनीषुश्चेत् कुरु सल्लेखनां ततः ॥ ११ ॥

---

१. ना पुरुषः।

अर्थ—जिस प्रकार कोई विदेशमें रहने वाला मनुष्य विपुल धन अर्जित करता है परन्तु जब स्वदेशको आनेकी इच्छा करता है तो उस देशके नियमानुसार वह उस धन को साथ लानेमें समर्थ नहीं हो पाता। इस दशामें वह संक्लिष्ट चित्त होता हुआ बहुत दुःखी होता है। इसी प्रकार यह पुरुष अपने प्रयत्नसे बहुत धनका संचय करता है परन्तु जब वह परलोकको जाना चाहता है तब इस लोकके नियमानुसार उस धनको साथ ले जानेमें समर्थ नहीं हो पाता, इस स्थितिमें वह दुःखसे संतप्त होता हुआ रोता है, क्या करूं ? महान् कष्ट सहकर मैंने यह धन उपार्जित किया है परन्तु साथ ले जानेमें समर्थ नहीं हूँ, मेरा परिश्रम व्यर्थ गया। इस प्रकार विलाप करते हुए उस पुरुषको देखकर कोई दयालु विदेश का राजा उसके लिये एक पत्र देता है तथा कहता है कि तुम इस पत्र को लेकर अपने नगर जाओ, यह धन तुम्हें वहाँ अवश्य ही मिल जायेगा। इसी प्रकार दयालु आचार्य परलोक को जाने के लिये इच्छुक पुरुष को सल्लेखना नामक पत्र देकर बार-बार कहते हैं कि तुम इस पत्रके प्रभावसे यह धन परलोकमें अवश्य ही प्राप्त कर लोगे, इसमें संशय नहीं है। तात्पर्य यही है कि यदि तुम इस लोक का वैभव परलोकमें ले जाना चाहते हो तो सल्लेखना करो॥ २-११॥

आगे संन्यास-सल्लेखना कबकी जाती है, यह कहते हुए उसके भेद बताते हैं—

उपसर्गेऽप्रतीकारे दुर्भिक्षे चापिभीषणे।
व्याधावापतिते घोरे संन्यासो हि विधीयते॥ १२॥

संन्यासस्त्रिविधः प्रोक्तो जैनागमविशारदैः।
प्रथमो भक्तसंख्यानो द्वितीयश्चेङ्गिनीमृतिः॥ १३॥

प्रायोपगमनं चान्त्यं कर्मनिर्जरणक्षमम्।
यत्र यमनियमाभ्यामाहारस्त्यज्यते क्रमात्॥ १४॥

वैयावृत्यं शरीरस्य स्वस्य यत्र विधीयते।
स्वेन वा च परैर्वापि सेवाभावसमुद्यतैः॥ १५॥

ज्ञेयः स भक्तसंख्यानः साध्यः सर्वजनैरिह।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदात् स त्रिविधो मतः॥ १६॥

जघन्य समयो ज्ञेयो घटिकाद्वय सम्मितः।
अन्त्यो द्वादश वर्षात्मा मध्यमोऽनेकधा स्मृतः॥ १७॥

इङ्गिनीमरणे स्वस्य सेवा स्वेन विधीयते।
परेण कार्यते नैव वैराग्यस्य प्रकर्षतः ॥ १८ ॥
प्रायोपगमने सेवा नैव स्वस्य विधीयते।
स्वेन वा न परैश्चापि निर्मोहत्वस्य वृद्धितः ॥ १९ ॥
एते त्रिविधसंन्यासाः कर्तव्याः प्रीतिपूर्वकम्।
प्रीत्या विधीयमानास्ते जायन्ते फलदायकाः ॥ २० ॥

अर्थ—प्रतिकार रहित उपसर्ग, भयंकर–दुर्भिक्ष और घोर–भयानक बीमारीके होनेपर संन्यास किया जाता है। जैन सिद्धान्तके ज्ञाता पुरुषों द्वारा संन्यास तीन प्रकार का कहा गया है। पहला भक्तप्रत्याख्यान, दूसरा इङ्गिनीमरण और तीसरा कर्मनिर्जरामें समर्थ प्रायोपगमन। जिसमें यम और नियमपूर्वक क्रमसे आहारका त्याग किया जाता है तथा अपने शरीर की टहल स्वयं की जाती है और सेवामें उद्यत रहने वाले अन्य लोगोंसे भी करायी जाती है, उसे भक्त प्रत्याख्यान जानना चाहिये। यह संन्यास सब लोगोंके द्वारा साध्य है। यह संन्यास जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकार का माना गया है। जघन्यका काल दो घड़ी अर्थात् एक मुहूर्त और उत्कृष्ट का बारह वर्ष जानना चाहिये। मध्यमका काल अनेक प्रकार है। इङ्गिनीमरणमें अपनी सेवा स्वयं की जाती है, वैराग्य की अधिकताके कारण दूसरोंसे नहीं करायी जाती। प्रायोपगमनमें अपनी सेवा न स्वयं की जाती है और न दूसरोंसे करायी जाती है। ये तीनों संन्यास प्रीतिपूर्वक करना चाहिये। क्योंकि प्रीतिपूर्वक किये जाने पर ही फलदायक होते हैं ॥ १२-२० ॥

आगे निर्यापकाचार्यके अन्तर्गत सल्लेखना करना चाहिये, यह कहते हैं—

सरिन्मध्ये यथा नौका कर्णधारं विना क्वचित्।
न लक्ष्यं शक्यते गन्तुं तथा निर्यापकं विना ॥ २१ ॥
सल्लेखनासरिन्मध्ये सुस्थितः क्षपकस्तथा।
न गन्तुं शक्यते लक्ष्यं कार्यो निर्यापकस्ततः ॥ २२ ॥
उपसर्गसहः साधुरायुर्वेदविशारदः।
देहस्थितिमवगन्तुं क्षमः क्षान्ति युतो महान् ॥ २३ ॥
मिष्टवाक् सरलस्वान्तः कारितानेक सन्मतिः।
निर्यापको विधातव्यः संन्यासग्रहणे पुरा ॥ २४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार नदीके बीच खेवटियाके बिना नाव कहीं अपने लक्ष्य स्थानपर नहीं ले जायी जा सकती उसी प्रकार निर्यापकाचार्यके

विना सल्लेखना रूप नदीके बीच स्थित क्षपक अपने लक्ष्य स्थानपर नहीं पहुंच सकता। इसलिये निर्यापकाचार्य बनाना चाहिये। जो साधु उपसर्ग सहन करने वाला हो, आयुर्वेदका ज्ञाता हो, शरीर स्थितिके जाननेमें समर्थ हो, क्षमासहित हो, महान् प्रभावशाली हो, मिष्ट-भाषी हो, सरल चित्त हो तथा जिसने अनेक संन्यासमरण कराये हैं, ऐसे साधुको संन्यासग्रहणके समय निर्यापकाचार्य बनाना चाहिये। यह निर्यापकाचार्य का निर्णय संन्यासग्रहणके पूर्व कर लेना चाहिये ॥ २१-२४ ॥

आगे क्षपक निर्यापकाचार्यसे सल्लेखना कराने की प्रार्थना करता है—

भगवन् ! संन्यासदानेन मज्जन्मसफलीकुरु ।
इत्थं प्रार्थयते साधुर्निर्यापकमुनीश्वरम् ॥ २५ ॥
क्षपकस्य स्थितिं ज्ञात्वा दद्याग्निर्यापको मुनिः ।
स्वीकृतिं स्वस्य संन्यासविधि सम्पादनस्य वै ॥ २६ ॥
द्रव्यं क्षेत्रं च कालं च भावं वा क्षपकस्य हि ।
विलोक्य कारयेत्तेन ह्युत्तमार्थं प्रतिक्रमम् ॥ २७ ॥
क्षपकः सकलान् दोषान् निर्व्याजं समुदीरयेत् ।
क्षमयेत् सर्वसाधून् स स्वयं कुर्यात्क्षमां च तान् ॥ २८ ॥
एवं निःशल्यकोभूत्वा कुर्यात्संस्तरोहणम् ।
निर्यापकश्च विज्ञाय क्षपकस्य तनूस्थितिम् ॥ २९ ॥
अन्नपानादि संत्यागं कारयेतु यथाक्रमम् ।
पूर्वमन्नस्य संत्यागं नियमेन यमेन वा ॥ ३० ॥
पेयस्यापि ततस्त्यागं कारयति यथाविधि ।
क्षपकस्य महोत्साहं वर्धयेदनिशं सुधीः ॥ ३१ ॥

अर्थ—'हे भगवन् ! संन्यास देकर मेरा जन्म सफल करो', इस प्रकार साधु निर्यापक मुनिराजसे प्रार्थना करता है। निर्यापक मुनि-क्षपक की स्थिति जानकर संन्यास-विधि करानेके लिये अपनी स्वीकृति देते हैं। निर्यापकाचार्य सबसे पहले द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको-देखकर क्षपकसे उत्तमार्थ प्रतिक्रमण कराते हैं। क्षपकको भी छल रहित अपने समस्त दोष प्रकट करना चाहिये। तत्पश्चात् क्षपक नि-शल्य होकर सब साधुओंसे अपने अपराधोंको क्षमा कराता है और स्वयं भी उन्हें क्षमा करता है। निर्यापकाचार्य क्षपककी शरीरस्थिति-को अच्छी तरह जानकर क्रमसे अन्न-पानका त्याग कराते हैं। पहले

यम या नियम रूपसे अन्नका त्याग कराते हैं पश्चात् क्रमसे पेयका भी त्याग कराते हैं। बुद्धिमान् निर्यापकाचार्य निरन्तर क्षपकका उत्साह बढ़ाते रहते हैं ॥ २५-३१ ॥

आगे निर्यापकाचार्य क्षपकको क्या उपदेश देते हैं, यह कहते हैं—

क्षुत्पिपासादिना जातं कष्टं नानानिदर्शनैः।
दूरीकुर्यात् सदा साधुर्निर्यापणविधिक्षमः ॥ ३२ ॥
साधो ! न विद्यते कश्चित् पुद्गलो जगतीतले।
यो न भुक्तस्त्वया पूर्वं केयं भुक्ते रतिस्तव ॥ ३३ ॥
नारके कियती बाधा विसोढा क्षुत्तृषोस्त्वया।
संस्मरनित्यमात्मानं ज्ञानानन्दस्वभावकम् ॥ ३४ ॥
आत्मा न म्रियते जातु पर्यायो ह्येवमुच्यते।
पर्यायस्य स्वभावोऽयं न हर्तुं शक्य एव ते ॥ ३५ ॥
विधिना कृत संन्यासो भव्यः सान्तभवार्णवः।
नियमान्निर्वृतिं याति पृथक्त्वभव मध्यके ॥ ३६ ॥
बालबालोऽथवा बालो बालपण्डित एव च।
मृत्यवो बहवः प्राप्ता भ्रमता भवकानने ॥ ३७ ॥
पण्डितोऽद्यमृतिः प्राप्ता विधेह्येतां सुनिर्मलाम्।
पण्डिते मरणे प्राप्ते पण्डित पण्डित सम्मृतिः ॥ ३८ ॥
सुलभा ते भवेदेव साहसं कुरु सत्वरम्।
निर्यापकवचः श्रुत्वा क्षपकः शुद्धचेतसा ॥ ३९ ॥
ध्यायन् पञ्च नमस्कार मन्त्रं प्राणान् विसर्जयेत्।
क्षपकस्त्रिदिवं याति संन्यासस्य प्रभावतः ॥ ४० ॥
तत्र भुङ्क्ते चिरं भोगान् वन्दते च जिनालयान्।
मेरु नन्दीश्वरादीनां स्थायिनोऽकृत्रिमान् सदा ॥ ४१ ॥

अर्थ—निर्यापण विधि करानेमें समर्थ साधु निर्यापकाचार्य, क्षुधा-तृषा आदिसे उत्पन्न कष्टको अनेक दृष्टान्तोंके द्वारा दूर करता रहे। हे साधो ! इस पृथिवीतलपर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जिसे तूने पहले भोगा न हो। अतः भुक्त—भोगी हुई वस्तुमें तुम्हारा यह राग क्या है ? नरकपर्यायमें तूने क्षुधा तृषाकी कितनी बाधा सही है। तूं निरन्तर ज्ञानानन्द स्वभावी आत्माका स्मरण कर। आत्मा कभी नहीं मरती है, मात्र पर्याय ही छूटती है, पर्यायका यह स्वभाव तुम्हारे द्वारा हरा नहीं जा सकता। जिसका संसार सागर सान्त हो गया है, ऐसा भव्य

जीव यदि विधिपूर्वक संन्यास मरण करता है तो वह सात-आठ भवमें नियमसे निर्वाणको प्राप्त होता है। संसार वनमें भ्रमण करते हुए तूने बालबाल, बाल और बालपण्डितमरण बहुत किये हैं। आज पण्डित-मरण प्राप्त हुआ है सो इसे निर्मल-निर्दोष कर। पण्डितमरण प्राप्त होनेपर पण्डितपण्डितमरण सुलभ हो जावेगा, अतः शीघ्र हो साहस कर। निर्यापकाचार्यके वचन सुनकर क्षपक शुद्धचित्तसे पञ्चनमस्कार मन्त्रका ध्यान करता हुआ प्राण छोड़ता है। संन्यासमरणके प्रभावसे क्षपक स्वर्ग जाता है तथा वहाँ चिरकालतक भोग भोगता है। साथ ही मेरु—नन्दीश्वर आदिके शाश्वत अकृत्रिम चैत्यालयोंकी वन्दना करता है ॥ ३३-४१ ॥

भावार्थ—संक्षेपमें मरणके पांच भेद हैं—१. बालबाल, २. बाल, ३. बालपण्डित ४. पण्डित और ५. पण्डित-पण्डित। मिथ्यादृष्टिके मरणको बालबालमरण कहते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टिके मरणको बाल-मरण कहते हैं। देशविरत-श्रावकके मरणको बालपण्डितमरण कहते हैं। मुनिके मरणको पण्डितमरण कहते हैं और केवलीके (मरण) निर्वाणको पण्डितपण्डितमरण कहते हैं।

आगे सल्लेखनाके प्रकरणका समारोप कहते हैं—

मनसि ते यदि नाकसुखस्पृहा
कुरु रुचिं जिनसंयमधारणे।
भज जिनेन्द्रपदं श्रयशारदां
जिन मुखाब्जभवां सुगुरून् नम ॥ ४२ ॥

अर्थ—यदि तेरे मनमें स्वर्ग सुखको चाह है तो जिनेन्द्र प्रतिपादित संयमके धारण करनेमें रुचि कर, जिनेन्द्रदेवके चरणोंको आराधना कर, जिनेन्द्रके मुखकमलसे समुत्पन्न वाणीका आश्रय लें और सुगुरुओंको नमस्कार कर ॥ ४२ ॥

इस प्रकार सम्यक्-चारित्र-चिन्तामणिमें संन्यास-सल्लेखनाका वर्णन करनेवाला एकादश प्रकाश समाप्त हुआ।

द्वादशप्रकाशः

देशचारित्राधिकार

मङ्गलाचरणम्

यज्ज्ञानमार्तण्डसहस्ररश्मि-
प्रकाशिताशेषदिगन्तराले ।
न विद्यते किञ्चिदपि प्रकाश-
विवर्जितं वस्तु समस्तलोके ॥ १ ॥

यश्चात्र नित्यं गतरागरोषः
शुद्धाम्बराभः सततं विभाति ।
स वीर नाथो मम बोधरम्य-
रश्मिप्रसारेऽवहितः सदा स्यात् ॥ २ ॥

अर्थ—जिनके ज्ञानरूपी सूर्यकी हजारों किरणोंके द्वारा समस्त दिशाओंके अन्तराल-मध्यभाग प्रकाशित हो रहे हैं। ऐसे समस्त लोकमें कोई पदार्थ अप्रकाशित नहीं रहा था अर्थात् जो सर्वज्ञ थे और जो नित्य ही रागद्वेषसे रहित होनेसे शुद्ध आकाशके समान सदा सुशोभित थे ऐसे महावीर भगवान् मेरे ज्ञानको रमणीय किरणोंके प्रसारमें सदा तत्पर रहें ॥ १-२ ॥

भावार्थ—सर्वज्ञ और वीतराग भगवान् महावीरका पुण्य स्मरण हमारी ज्ञानवृद्धिमें सहायक हों।

आगे देशचारित्रका वर्णन करते हैं—

अथाग्रे देशचारित्रं किञ्चिदत्र प्रवक्ष्यते ।
हिताय हतशक्तीनां पूर्णचारित्रधारणे ॥ ३ ॥
देह संसार निर्विण्णः सम्यक्त्वेन विभूषितः ।
कश्चिद् भव्यतमो जीवस्तीर्ण प्राय भवार्णवः ॥ ४ ॥
हिंसास्तेयानृताब्रह्म द्विविधग्रन्थराशितः ।
देशतो विरतो भूत्वा देशचारित्रमश्नुते ॥ ५ ॥

अर्थ—अब आगे पूर्णचारित्र धारण करनेमें शक्तिहीन मनुष्योंके हितके लिए कुछ देशचारित्र कहा जायगा। जो संसार और शरीरसे उदासीन हैं, सम्यग्दर्शनसे सुशोभित हैं तथा जिसने भव-सागरको प्रायः पार कर लिया है ऐसा कोई श्रेष्ठ भव्य जीव, हिंसा, असत्य,

चोरी, कुशील और द्विविध—चेतन-अचेतन परिग्रह राशिसे एकदेश विरक्त हो देशचारित्रको प्राप्त होता है ।। ३-५ ।।

आगे पाँच अणुव्रतोंका स्वरूप निर्देश करते हैं—

अहिंसादिप्रभेदेनाणुव्रतं पञ्चधामतम् ।
निवृत्तिस्त्रसहिंसातोऽहिंसाणुव्रतमुच्यते ।। ६ ।।
संकल्पाद् विहिता हिंसा भविनां भववर्धनी ।
एतत्प्रभावतो जीवा जायन्ते श्वभ्रभूमिषु ।। ७ ।।
आरम्भाज्जायते हिंसा या च युद्धात्प्रजायते ।
उद्यमाद् या समुत्पन्ना तासां त्यागो न वर्तते ।। ८ ।।
यथायथोर्ध्वमायान्ति प्रतिमादिविधानतः ।
तथा तथा परित्याग आसां हि सम्भवेन्नृणाम् ।। ९ ।।
स्थूलानृतवचनानां त्यागो यत्र विधीयते ।
सत्याणुव्रतमेतत्स्यात्पुंसां सद्धर्मशालिनाम् ।। १० ।।
स्थूलस्तेयाख्य पापाद् या विरति पुण्यशोभिनाम् ।
अचौर्याणुव्रतं ज्ञेयं तदेतत्सौख्यकारणम् ।। ११ ।।
धर्मेण परिणीतायाः पत्न्याः सम्बन्धमन्तरा ।
अन्यस्त्रीसङ्ग सन्त्यागो ब्रह्मचर्यं भवेत्तु तत् ।। १२ ।।
धनधान्यादिवस्तूनां चेतनाचेतनावताम् ।
यो देशेन परित्यागः सोऽपरिग्रहसंज्ञकम् ।। १३ ।।
अणुव्रतं परिज्ञेयं जनसौजन्यकारणम् ।
वस्तुतो वर्धमानेच्छा जनानां दुःखकारणम् ।। १४ ।।

अर्थ—अहिंसा आदिके भेदसे अणुव्रत पाँच प्रकारका माना गया है। त्रसहिंसासे निवृत्ति होना अहिंसाणुव्रत कहलाता है। संकल्पासे की गई हिंसा संसारी जीवोंके संसारको बढ़ानेवाली है। इसके प्रभावसे जीव नरककी पृथिवियोंमें उत्पन्न होते हैं। आरम्भसे, युद्धसे और उद्योग से जो हिंसायें होती हैं उनका प्रारम्भमें त्याग नहीं होता। प्रतिमा आदिके विधानसे मनुष्य जैसे-जैसे ऊपर आते जाते हैं वैसे-वैसे ही उनका त्याग सम्भव होता जाता है। स्थूल असत्य वचनोंका जिसमें त्याग किया जाता है वह समीचीन धर्मसे सुशोभित पुरुषोंका सत्याणुव्रत है। स्थूल चोरी नामक पापसे पुण्यशाली मनुष्योंकी जो निवृत्ति है उसे अचौर्याणुव्रत जानना चाहिए। यह सुखका कारण है। धर्मपूर्वक विवाही गई स्त्रीके सम्बन्धको छोड़कर अन्य स्त्रियोंके समागमका

त्याग करना ब्रह्मचर्याणु व्रत है। चेतन-अचेतन धनधान्यादि वस्तुओंका जो एकदेश त्याग है उसे परिग्रह परिमाणाणुव्रत जानना चाहिए। यह व्रत मनुष्योंके सौजन्यका कारण है। वास्तवमें बढ़ती हुई इच्छा ही मनुष्योंके दुःखका कारण है॥ ६-१४॥

आगे तीन गुणव्रतोंका वर्णन करते हैं—

अणुव्रतानां साहाय्यकरणं स्याद् गुणव्रतम्।
दिशाव्रतादिभेदेन तच्चेह त्रिविधं मतम्॥ १५॥
प्राच्यपाच्यादिकाष्ठासु यातायातनियन्त्रणम्।
यावज्जीवं भवेत्काष्ठा व्रतमाद्यं गुणव्रतम्॥ १६॥
काष्ठाव्रतस्य मर्यादा मध्ये ह्यचिरकालकम्।
यो हि नाम भवेन्नाम तच्च देशव्रतं स्मृतम्॥ १७॥
मनो वाक्काय चेष्टा या सा हि दण्डः समुच्यते।
अर्थो न विद्यते यस्य दण्डः सोऽनर्थको मतः॥ १८॥
त्यागश्चानर्थदण्डस्यानर्थदण्डव्रतं मतम्।
कृष्यादिपापकार्याणामुपदेशो निरर्थकः॥ १९॥
दीयते यः स पापोपदेशो ह्यनर्थदण्डकः।
तस्य त्यागो विधातव्यः पापास्रवनिरोधिभिः॥ २०॥
धनुर्बाणादि हिंसोपकरणानां निरर्थकम्।
हिंसादानं प्रदानं स्यात्तत्त्यागस्तु व्रतं स्मृतम्॥ २१॥
रागद्वेषादिवृद्धिः स्याद् यासां श्रवणतो नृणाम्।
ता हि दुःश्रुतयो ज्ञेयास्तत्त्यागस्तु व्रतं मतम्॥ २२॥
अन्येषां वधबन्धादि चिन्तनं रागरोषतः।
अपध्यानं भवेत् त्यागस्तस्य च स्यान्महद् व्रतम्॥ २३॥
शैलाराम समुद्रादौ यद् भ्रमणं निरर्थकम्।
मताप्रमादचर्या सा तत्त्यागो व्रतमुच्यते॥ २४॥

अर्थ—जो अणुव्रतोंकी सहायता करता है वह गुणव्रत है। दिग्व्रत आदिके भेदसे वह गुणव्रत तीन प्रकारका माना गया है। पूर्व-पश्चिम आदि दिशाओंमें जीवन पर्यन्तके लिये यातायातको नियन्त्रित करना दिग्व्रत नामका पहला गुणव्रत है। दिग्व्रतकी मर्यादाके बीचमें कुछ समयके लिए जो नियम लिया जाता है वह देशव्रत माना गया है। मन, वचन, कायकी जो चेष्टा है वह दण्ड कहलाती है। जिसका कोई प्रयोजन नहीं है वह अनर्थ कहलाता है, अनर्थदण्डका त्याग करना अनर्थ-

दण्डव्रत है। कृषि आदि कार्योंका जो निरर्थक-निष्प्रयोजन उपदेश दिया जाता है वह **पापोपदेश** नामका अनर्थदण्ड है। पापास्रवका निरोध करनेवाले मनुष्योंको उसका त्याग करना चाहिए। धनुष, बाण आदि हिंसाके उपकरणोंका निरर्थक देना **हिंसादान** नामका अनर्थ दण्ड है, उसका त्याग करना व्रत है। जिनके सुननेसे मनुष्योंको राग-द्वेषकी वृद्धि होती है वह **दुःश्रुति** नामका अनर्थदण्ड है, इसका त्याग करना व्रत है। रागद्वेषसे अन्य लोगोंके वध-बन्धन आदिका चिन्तन करना **अपध्यान** अनर्थदण्ड है, उसका त्याग करना श्रेष्ठ व्रत है। पर्वत, उद्यान तथा समुद्र आदिमें निरर्थक भ्रमण करना **प्रमादचर्या** है उसका त्याग करना व्रत कहलाता है ॥ १५-२४ ॥

आगे चार शिक्षाव्रतोंका वर्णन करते हैं—

मुनिधर्मस्य शिक्षायाः प्राप्तिर्यस्मात्प्रजायते।
शिक्षाव्रतं तु तज्ज्ञेयं चतस्रः सन्ति तद्भिदाः ॥ २५ ॥
आद्यं सामायिकं ज्ञेयं द्वितीयं प्रोषधाह्वयम्।
भोगोपभोगवस्तूनां परिमाणं तृतीयकम् ॥ २६ ॥
शिक्षाव्रतं चतुर्थं स्यादतिथीसंविभागकम्।
श्रावकैः पालनीयानि यथाकालं यथाविधि ॥ २७ ॥

अर्थ—जिससे मुनिधर्मकी शिक्षाकी प्राप्ति होती है उसे शिक्षाव्रत जानना चाहिये। इसके चार भेद हैं—पहला सामायिक, दूसरा प्रोषधोपवास, तीसरा भोगोपभोग परिमाण और चौथा अतिथि संविभाग। श्रावकोंको यथासमय विधि-पूर्वक इनका पालन करना चाहिये ॥ २५-२७ ॥

आगे इनका स्वरूप कहते हैं—

प्रातर्मध्याह्नसन्ध्यासु कृतिकर्मपुरस्सरम्।
सामायिकं सुकर्तव्यं घटिकाद्वयसम्मितम् ॥ २८ ॥
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां चतुराहारवर्जनम्।
प्रोषधः स हि विज्ञेय एकासनपुरस्सरः ॥ २९ ॥
ये भुज्यन्ते सकृद् भोगाः कथ्यन्ते तेऽशनादयः।
भूयोभूयोऽपि भुज्यन्ते ये तेऽलंकरणादयः ॥ ३० ॥
उपभोगाः प्रकीर्त्यन्ते वस्तु तत्त्व विचारकैः।
परिमाणं सदा ह्येषां विधातव्यं विवेकिभिः ॥ ३१ ॥

सुपात्राय सदा देयं दानमत्र चतुर्विधम्।
सुपात्रं त्रिविधं प्रोक्तमुत्तमादि प्रभेदतः॥ ३२ ॥
रत्नत्रयेण संयुक्ता मुनयः शान्तमूर्तयः।
ज्ञेयान्युत्तमपात्राणि ह्यार्यिका मातरस्तथा॥ ३३ ॥
देशवृत्तयुता ज्ञेया ऐलकादिपदान्विताः।
सूक्तानि मध्यपात्राणि जैनतत्त्वविशारदैः॥ ३४ ॥
व्रतेन रहिताः सम्यग्दृष्टयो जिनभाक्तिकाः।
प्राप्ता जघन्य पात्रत्वं कथिताश्चरणागमे॥ ३५ ॥
एभ्यस्त्रिविध पात्रेभ्यो देयं दानं चतुर्विधम्।
आहारौषध शास्त्राद्यभयभेदाच्चतुर्विधम्॥ ३६ ॥
दानं महर्षिभिः प्रोक्तं गृहिणां पुण्यकारणम्।
दानेनैव शुध्यन्ते गृहाणि गृहिणामिह॥ ३७ ॥
अन्ते सल्लेखना कार्या व्रतिभिर्विधिसंयुता।
सल्लेखना विधिः पूर्वं प्रोक्तो विस्तरतो मया॥ ३८ ॥

अर्थ—प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल कृतिकर्म—कायोत्सर्ग आवर्त आदि सहित कमसे-कम दो घड़ीतक सामायिक करना चाहिये। अष्टमी और चतुर्दशीको चारों प्रकारके आहारका त्याग करना प्रोषधोपवास है। यह धारणा और पारणाके एकासनसे सहित होता है। जो एक बार भोगे जाते हैं वे भोजन आदि भोग हैं और जो बार-बार भोगे जाते हैं वे आभूषण आदि वस्तु स्वरूपके ज्ञाता पुरुषों द्वारा उपभोग कहे जाते हैं। विवेकी मनुष्योंको इनका परिमाण करना चाहिये। यही भोगोपभोग परिमाणव्रत है। सुपात्रके लिये सदा चार प्रकारका दान देना चाहिये। उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे सुपात्र तीन प्रकारका कहा गया है। जो रत्नत्रयसे सहित तथा शान्तिकी मानों मूर्ति हैं ऐसे मुनि और आर्यिका माताएँ उत्तम पात्र जानने योग्य हैं। जो देशव्रतसे सहित हैं ऐसे ऐलक आदि पदसे सहित व्रती, जैनतत्त्वके ज्ञाता पुरुषोंके द्वारा मध्यम पात्र कहे गये हैं और जो व्रतसे रहित हैं तथा जिनेन्द्रदेवके भक्तसम्यग्दृष्टि हैं वे चरणानुयोगमें जघन्य पात्र माने गये हैं। इन तीनों प्रकारके पात्रोंके लिये चार प्रकारका दान देना चाहिये। महर्षियोंने आहार, औषध, शास्त्रादि उपकरण और अभयके भेदसे दानके चार भेद कहे हैं। वास्तवमें गृहस्थोंके घर दानसे ही शुद्ध होते हैं। अन्तमें व्रती मनुष्योंको विधि-

पूर्वक सल्लेखना करनो चाहिये। सल्लेखनाको विधि पोछे विस्तार-पूर्वक कही गई है ॥ २८-३८ ॥

आगे सत्तर अतिचारोंके कथनकी प्रतिज्ञाकर सम्यग्दर्शनके अतिचार कहते हैं—

इतोऽग्रे सम्प्रवक्ष्याम्यतीचाराणां च सप्ततिम्।
श्रुत्वा सुपरिहार्यास्ते व्रतनैर्मल्य काङ्क्षिभिः ॥ ३९ ॥
शङ्का कांक्षा च भोगानां विचिकित्सा तथैव च।
अन्यदृष्टेः प्रशंसा च संस्तवश्चापि मोहिनः ॥ ४० ॥
एते पञ्च परित्याज्याः सद्दृष्टे रति चारकाः।
शुद्ध सद्दृष्टिरेवस्यात् कर्मक्षपणकारणम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—अब इसके आगे सत्तर अतिचार कहेंगे। व्रतोंकी निर्मलता चाहनेवाले पुरुषोंको उन्हें सुनकर दूर करना चाहिये। शङ्का, भोगाकाङ्क्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टि प्रशंसा और मोही—अन्य दृष्टिका संस्तव, ये सम्यग्दर्शनके पांच अतिचार छोड़ने योग्य हैं क्योंकि शुद्ध—निरतिचार सम्यग्दर्शन ही कर्मक्षयका कारण होता है ॥ ३९-४१ ॥

आगे पांच अणुव्रतोंके अतिचार कहते हैं—

अहिंसाणुव्रतके अतिचार

आश्रितजीवजातीनां वधो बन्धो विभेदनम्।
आरोपोऽधिकभारस्य निरोधश्चान्न पानयोः ॥ ४२ ॥
अतीचारा इमे ज्ञेया अहिंसाणुव्रतस्य हि।
अतिचारान् परित्यज्य व्रतं कार्यं सुनिर्मलम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—आश्रित जीव जातियों—गाय, भैंस आदिका वध—लाठी, चाबुक आदिसे पोटना, कष्ट देनेके अभिप्रायपूर्वक बन्ध—रस्सो आदिसे बांधना, सौन्दर्य बढ़ानेको भावनासे विभेदन—कान आदि अंगोंको छेदना, अधिक भार लादना और अन्न पानोका विरोध करना—पर्याप्त भोजन नहीं देना, ये पांच अहिंसाणु व्रतके अतिचार हैं। इनका त्याग कर व्रतको निर्मल बनाना चाहिये ॥ ४२-४३ ॥

सत्याणुव्रतके अतिचार

अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा जीवानां हितकांक्षिणाम्।
दानं मिथ्योपदेशस्य रहस्याख्यापनं तथा ॥ ४४ ॥

कूटलेख क्रिया निन्द्या न्यासस्यापहृतिस्तथा।
साकारो मन्त्रभेदश्च सत्याणुव्रतशालिभिः ॥ ४५ ॥

अतिचारा इमे त्याज्याः सत्याणुव्रतशालिभिः।
व्रतं निर्दोषमेवस्यादात्मशुद्धिविधायकम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—हित चाहनेवाले पुरुषोंको अज्ञान अथवा प्रमादसे मिथ्या उपदेश देना, स्त्री-पुरुषोंके रहस्य—एकान्त बातको प्रकट करना, कूट-लेख क्रिया—झूठे लेख लिखना, धरोहरका अपहरण करनेवाले वचन कहना और साकार मन्त्र भेद—चेष्टा आदिसे किसीका अभिप्राय जानकर प्रकट करना, ये सत्याणुव्रतके अतिचार हैं। निर्दोष व्रतके इच्छुक सत्याणु व्रतियोंको इनका त्याग करना चाहिये, क्योंकि निर्दोष व्रत ही आत्मशुद्धि करनेवाला होता है ॥ ४४-४६ ॥

अचौर्याणुव्रतके अतिचार

स्तेनप्रयोग चौरार्थादाने लोभस्यवृद्धितः।
विरुद्धराज्येऽतिक्रान्तिर्मानोन्मानीय वस्तुनोः ॥ ४७ ॥

हीनाधिक विधानं च सदृशस्यापि मिश्रणम्।
इत्येते पञ्च विज्ञेया अतिचाराः प्रदूषकाः ॥ ४८ ॥

अचौर्याणु व्रतस्येह वर्जनीया विवेकिभिः।
अतिचारयुतं वृत्तं न स्याच्छोभास्पदं क्वचित् ॥ ४९ ॥

अर्थ—स्तेनप्रयोग—लोभकी अधिकतासे चोरको चोरोके लिये प्रेरित करना, तदाहृतादान—चुराकर लायो हुई वस्तुको खरीदना, **विरुद्धराज्याति क्रम**—विरुद्ध राज्यसे तस्कर व्यापार करना, **हीनाधिक मानोन्मान**—नाप-तौलके वस्तुओंको कम बढ़ रखना और **सदृशसन्मिश्र**—असली वस्तु में नकली वस्तु मिलाना; ये अचौर्याणुव्रतके अतिचार विवेकी जनोंके द्वारा छोड़ने योग्य हैं, क्योंकि अतिचार सहित व्रत कहीं भी शोभित नही होता ॥ ४७-४९ ॥

ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार

कृतिरन्य विवाहस्य द्विविधेत्वरिकागतो।
अनङ्ग क्रीडनं तीव्र कामेच्छा व्रतधारिणः ॥ ५० ॥

अतिचारा इमे ज्ञेया ब्रह्मचर्यव्रतस्य हि।
एतान् सर्वान् परित्यज्य विधेयं विमलं व्रतम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—**अन्यविवाह करण**—अपनो या अपने आश्रित सन्तानको छोड़कर दूसरोंका विवाह करना, **परिगृहीतेत्वरिकागति**—दूसरेके द्वारा गृहीत कुलटा स्त्रियोंसे व्यवहार रखना, **अपरिगृहीतेत्वरिका गति**—दूसरेके द्वारा अगृहीत कुलटा स्त्रियोंसे व्यवहार रखना, **अनङ्गक्रीड़ा**—काम-सेवनके लिये निश्चित अङ्गोंसे अतिरिक्त अङ्गों द्वारा क्रीड़ा करना और **तीव्र कामेच्छा**—काम-सेवनमें तीव्र लालसा रखना, ये ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार हैं। इन सबका त्याग कर व्रतको निर्मल करना चाहिये ॥ ५०-५१ ॥

क्षेत्रवास्त्वो रुक्मभर्मणोर्धनधान्ययोस्तथा।
दासदास्योस्तथाकुप्य भाण्डयोश्च व्यतिक्रमः ॥ ५२ ॥
एते पञ्च परिप्रोक्ता अतिचारा जिनागमे।
त्याज्याः स्वहित कामैर्वै पञ्चमाणु व्रतस्य हि ॥ ५३ ॥

अर्थ—**क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम**—खेत व मकानोंकी सीमाका उल्लङ्घन करना, **रुक्मभर्मप्रमाणातिक्रम**—चांदी, स्वर्णकी सीमाका उल्लंघन करना, **धनधान्यप्रमाणातिक्रम**—गाय-भैंस आदि पशुधन और गेहूं, धान, चना आदि अनाजकी सीमाका व्यतिक्रम करना, **दासीदासप्रमाणातिक्रम**—संपत्ति रूपसे स्वीकृत दासीदासके प्रमाणका उल्लंघन करना और **कुप्यभाण्डप्रमाणातिक्रम**—वस्त्र तथा बर्तनोंकी सीमाका व्यतिक्रम करना, ये परिग्रह परिमाण व्रतके अतिचार हैं। आत्महितके इच्छुक मनुष्योंको इनका त्याग करना चाहिये ॥ ५२-५३ ॥

आगे गुणव्रतोंके अतिचार कहते हैं—

दिग्व्रतके अतिचार

अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा ह्यूर्ध्वसीमव्यतिक्रमः।
अधोव्यतिक्रमश्चैव तिर्यक्सीम व्यतिक्रमः ॥ ५४ ॥
लोभाद्वा क्षेत्रवृद्धिश्च ह्याधानमन्यथास्मृतेः।
अतिचारा इमे त्याज्याः कार्ष्ण्य व्रतममीप्सुभिः ॥ ५५ ॥

अर्थ—प्रमाद अथवा अज्ञानसे ऊर्ध्व सीमाका उल्लंघन करना, अधः—नीचे जानेकी सीमाका उल्लंघन करना, तिर्यक् सीमा—समान धरातलकी सीमाका उल्लंघन, लोभवश किसी दिशाकी सीमा घटाकर अन्य दिशाकी सीमामें वृद्धि कर लेना और कृत सीमाको भूलकर अन्य

सीमाको स्मृतिमें रखना, ये दिग्व्रतके अतिचार हैं। निर्दोष दिग्व्रतकी इच्छा रखने वाले पुरुषोंके द्वारा ये छोड़ने योग्य हैं ॥ ५४-५५ ॥

देशव्रतके अतिचार

आनयनं बहिः सीम्नो यस्य कस्यापि वस्तुनः ।
प्रेषणं प्रेष्यवर्गस्य शब्दस्य प्रेषणं बहिः ॥ ५६ ॥
प्रदर्शनं स्वरूपस्य क्षेपणं पुद्गलस्य च ।
इत्थं मनीषिभिः प्रोक्ता दोषा देशव्रतस्य हि ॥ ५७ ॥
त्याज्या मनस्विभिर्नित्यं निर्दोषव्रतवाञ्छिभिः ।
व्रतं सदोषं नो भाति मलिनं ह्यम्बरं यथा ॥ ५८ ॥

अर्थ—मर्यादाके बाहरसे जिस किसी वस्तुको बुलाना, मर्यादाके बाहर सेवक समूहको भेजना, मर्यादाके बाहर अपना शब्द पहुँचाना—फोन आदि करना, मर्यादाके बाहर कार्य करने वालोंको अपना स्वरूप दिखाना और मर्यादाके बाहर पुद्गल—कंकड़-पत्थर फेंकना या पत्र आदि भेजना, ये विद्वज्जनोंके द्वारा देशव्रतके अतिचार कहे गये हैं। निर्दोषव्रतको इच्छा रखने वाले विचारशील मनुष्योंको इनका सदा त्याग करना चाहिये, क्योंकि सदोष व्रत मलिन वस्त्रके समान सुशोभित नहीं होता ॥ ५६-५८ ॥

अनर्थदण्डव्रतके अतिचार

कन्दर्पश्च कौत्कुच्यं च मौखर्यं चासमीक्ष्य वै ।
अधिकस्य समारम्भः स्वप्रयोजनमन्तरा ॥ ५९ ॥
भोगोपभोगवस्तूनां संग्रहोऽनर्थको महान् ।
चित्तविक्षेपकारित्वादाकुलताविधायकः ॥ ६० ॥
अतिचारा इमेत्याज्यास्तृतीयेऽनर्थदण्डके ।
लक्ष्यप्राप्तिर्यतो नास्ति सदोष व्रतधारणे ॥ ६१ ॥

अर्थ—कन्दर्प—रागमिश्रित भण्ड वचन बोलना, **कौत्कुच्य**—उसके साथ शरीरसे कुचेष्टा करना, **मौखर्य**—उसके साथ निरर्थक अधिक बोलना, स्वकोय प्रयोजनके न होने पर भी विचार बिना अधिक आरम्भ कराना और भोगोपभोगको वस्तुओंका निरर्थक ऐसा बड़ा संग्रह करना जो चित्तविक्षेपका कारण होनेसे आकुलता उत्पन्न करने वाला हो। अनर्थदण्डव्रत नामक तृतीय गुणव्रतके ये अतिचार छोड़ने योग्य हैं क्योंकि सदोष व्रतके धारण करने पर लक्ष्यको प्राप्ति नहीं होती ॥ ५९-६१ ॥

सामायिकशिक्षाव्रतके अतिचार

चेतसश्चञ्चलत्वं च वचोदुष्प्रणिधानता।
शरीरस्यान्यथावृत्तिरादराभाव एव च ॥ ६२ ॥
पाठस्य विस्मृतिश्चैते सामायिकव्यतिक्रमाः।
त्याज्याः सुश्रावकैर्नित्यं निन्दनीया महर्षिभिः ॥ ६३ ॥

अर्थ—चित्तकी चञ्चलता, वचनकी दुष्प्रणिधानता, शरीरकी अन्यथा-वृत्ति—इधर-उधर देखना, आदरका अभाव और पाठकी विस्मृति, ये सामायिकके अतिचार महर्षियोंके द्वारा निन्दनीय हैं। उत्तम श्रावकोंको इनका त्याग करना चाहिये ॥ ६२-६३ ॥

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतके अतिचार

अदृष्टामार्जितस्थाने मलादीनां विमोचनम्।
अदृष्टामार्जितस्थाने संस्तरस्य प्रसारणम् ॥ ६४ ॥
अदृष्टामार्जितादानमादराभाव एव च।
तिथेर्व्यतिक्रमश्चापि विस्मरणं विधेरपि ॥ ६५ ॥
शिक्षाव्रतस्य विज्ञेया द्वितीयस्य व्यतिक्रमाः।
एते सर्वेऽपि संत्याज्या निर्मलव्रतवाञ्छिभिः ॥ ६६ ॥

अर्थ—क्षुधासम्बन्धी शिथिलताके कारण बिना देखे, बिना शोधे स्थान पर मलादिकका छोड़ना, बिना देखे, बिना शोधे स्थान पर बिस्तर आदिका फैलाना, बिना देखे, बिना शोधे उपकरण आदिका ग्रहण करना, आदरका अभाव और उपवासकी तिथिका उल्लंघन करना, ये द्वितीय शिक्षाव्रतके अतिचार हैं। निर्मल व्रतकी इच्छा रखने वाले पुरुषोंके द्वारा ये सभी छोड़ने योग्य हैं ॥ ६४-६६ ॥

भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रतके अतिचार

लौल्यात्सचित्तसंसेवा सचित्तेन युतस्य च।
मिश्रस्य च सचित्तेन भोगोऽभिषवसेवनम् ॥ ६७ ॥
दुष्पक्वस्य पदार्थस्य ग्रहणं चातिगृद्धितः।
शिक्षाव्रत तृतीयस्य परित्याज्या अतिक्रमाः ॥ ६८ ॥
इन्दुर्यथा कलङ्केन युक्तो नैव विशोभते।
तथा दोषैश्च संयुक्तो व्रतो नैवात्र शोभते ॥ ६९ ॥

अर्थ—भोगाकांक्षाकी आतुरतासे सचित्त वस्तुका सेवन करना, सचित्तसे सम्बद्ध वस्तुका सेवन करना, सचित्तसे मिली हुई वस्तुका

सेवन करना, विकारवर्द्धक गरिष्ठ वस्तुका सेवन करना और दुष्पक्व—अर्धपक्व या अर्धदग्ध पदार्थको ग्रहण करना, ये भोगोपभोग परिमाण नामक तृतीय शिक्षाव्रतके अतिचार हैं। इनका परित्याग करना चाहिये क्योंकि जिस प्रकार कलङ्कसे युक्त चन्द्रमा सुशोभित नहीं होता, उसी प्रकार दोषोंसे युक्त व्रती इस भूतल पर सुशोभित नहीं होता ॥ ६७-६९ ॥

अतिथि संविभाग व्रतके अतिचार

सचित्तभाजने दत्तः पिहितश्च सचित्ततः।
परैः प्रदीयमानश्च मात्सर्यमितरैर्जनैः ॥ ७० ॥
कालस्योल्लङ्घनं दाने प्रमादवशतो नृणाम्।
तुर्यशिक्षाव्रतस्यैते दोषास्त्याज्याः सदा बुधैः ॥ ७१ ॥

अर्थ—सचित्त--हरित पत्ते आदि बर्तन पर रक्खा हुआ आहार देना, सचित्त—हरित पत्र आदिसे ढका हुआ आहार देना, परव्यपदेश—दूसरेसे आहार दिलाना, मात्सर्य—अन्य दातारोंसे ईर्ष्या करना और कालोल्लंघन—प्रमादवश दानके योग्य समयका उल्लंघन करना, ये पांच अतिथिसंविभाग नामक चतुर्थ शिक्षाव्रतके अतिचार ज्ञानी जनोंके द्वारा सदा छोड़ने योग्य हैं ॥ ७०-७१ ॥

सल्लेखनाके अतिचार

जीविताशंसनं जातु मरणाशंसनं क्वचित्।
मित्रैः सहानुरागश्चानुबन्धो भुक्तशर्मणः ॥ ७२ ॥
निदानं चेति विज्ञेयाः संन्यासस्य व्यतिक्रमाः।
एते सर्वे परित्याज्याः स्वर्गमोक्षाभिलाषिभिः ॥ ७३ ॥

अर्थ—कभी जीवित होनेकी आकांक्षा करना, कहीं कष्ट अधिक होने पर जल्दी मरनेकी इच्छा करना, मित्रोंके साथ अनुराग रखना, पूर्वभुक्त सुखका स्मरण करना और निदान—आगामी भोगोंकी इच्छा रखना, ये संन्यास—सल्लेखनाके अतिचार जानने योग्य हैं। स्वर्ग-मोक्षके इच्छुक पुरुषोंको इन सब अतिचारोंका परित्याग करना चाहिये ॥ ७२-७३ ॥

व्रत और शीलका विभाग

अणुव्रतानि कथ्यन्ते व्रतशब्देन सूरिभिः।
शेषाणि सप्त कथ्यन्ते शीलशब्देन सूरिभिः ॥ ७४ ॥

कृषीवला यथा लोके परितः क्षेत्रसंचयम् ।
कृत्वा वृतिं सुरक्षन्ति दुर्लभां सस्यसम्पदम् ॥ ७५ ॥
तथा शीलानि संधृत्य व्रतिनो मानवा भुवि ।
अत्यन्त दुर्लभां लोके रक्षन्ति व्रतसम्पदम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—अणुव्रत, आचार्यों द्वारा व्रत शब्दसे कहे जाते हैं और शेष सात—तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, शील शब्दसे कहे जाते हैं। जिस प्रकार लोकमें किसान खेतोंके चारों ओर बाड़ लगाकर दुर्लभ धान्य संपत्तिकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार पृथिवी पर व्रती मनुष्य शीलोंको धारण कर लोकमें अत्यन्त दुर्लभ व्रतरूप सम्पत्तिकी रक्षा करते हैं ॥ ७४-७६ ॥

अब आगे श्रावकोंको जिनपूजा आदिका निर्देश देते हैं—

भक्त्या जिनेन्द्रदेवस्य द्रव्यैः सारतरैरिह ।
अर्चा नित्यं विधेयास्ति सर्वसंकटहारिणी ॥ ७७ ॥
मन्दिराणि यथाशक्ति जिनदेवस्य भक्तितः ।
निर्मापयितुमर्हाणि मेरुतुल्यानि सर्वदा ॥ ७८ ॥
तेषु जिनेन्द्रदेवस्य प्रतिमाश्चापि सुन्दराः ।
स्थापनीया प्रतिष्ठाभिः कृत्वा भव्य महोत्सवम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—श्रावकोंको प्रतिदिन अत्यन्त श्रेष्ठ अष्ट द्रव्योंके द्वारा भक्ति-पूर्वक जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना चाहिये क्योंकि जिनपूजा सब संकटोंको हरने वाली है। श्रावकोंको सदा भक्तिपूर्वक सुमेरुके समान—उत्तुङ्ग जिनमन्दिर भी यथाशक्ति बनवानेके योग्य हैं, तथा उनमें प्रतिष्ठाओं द्वारा महोत्सव कर जिनेन्द्र भगवान्की सुन्दर—मनोज्ञ प्रतिमाएँ स्थापित करना चाहिये ॥ ७७-७९ ॥

आगे जिनवाणीके प्रसारका निर्देश देते हैं—

जिनवाणी प्रसाराय प्रयत्नो व्रतिभिर्जनैः ।
कार्यः सदा स्वद्रव्येण संचितेन सुभक्तितः ॥ ८० ॥
विद्यालयाश्च संस्थाप्याश्छात्रवृन्देन संयुताः ।
शिक्षकास्तत्र संयोज्या योग्यवृत्त्याभितोषिताः ॥ ८१ ॥
विद्वांसो दानमानार्हाः सच्छास्त्रेषु कृतश्रमाः ।
साम्प्रतं जिनशास्त्राणामाधाराः सन्ति ते यतः ॥ ८२ ॥
निर्ग्रन्थमुद्रयोपेता विरक्ता भवभोगतः ।
शश्वदात्म हितोद्युक्ताः परकल्याणकाङ्क्षिणः ॥ ८३ ॥

मुनयोऽपि सदावन्द्या जैनधर्मप्रभावकाः ।
तेषां प्रभावना कार्या जनतानन्ददायिनी ॥ ८४ ॥
दीनहीनजना लोके कारुण्यावहमूर्तयः ।
अन्नवस्त्रादिदानेन रक्षणीयाः सदा नरैः ॥ ८५ ॥
आरोग्यलाभसंस्थान निचया धनदानतः ।
पोषणीयाः सदा स्वीय शरीर सहयोगतः ॥ ८६ ॥
लोककल्याण कारीणि कार्याणि विविधान्यपि ।
यथाशक्ति विधेयानि करुणापूर्ण मानसैः ॥ ८७ ॥

अर्थ—व्रती मनुष्योंको अपने संचित द्रव्यके द्वारा सदा भक्तिपूर्वक जिनवाणीके प्रसारके लिये कार्य करना चाहिये। छात्र समूहसे सहित विद्यालय भी स्थापित करना चाहिये और उनमें योग्यवृत्तिसे संतोषित अध्यापकोंको संयोजित करना चाहिये। समीचीन शास्त्रोंमें परिश्रम करने वाले विद्वान् भी दान तथा सम्मानके योग्य हैं क्योंकि वे इस समय जिनशास्त्रोंके आधारभूत हैं। निर्ग्रन्थ मुद्रासे सहित, संसार सम्बन्धी भोगोंसे विरक्त, निरन्तर आत्महितमें तत्पर, परकल्याणके इच्छुक तथा जैनधर्मकी प्रभावना करने वाले मुनि भी सदा वन्दनीय हैं। जनसमूहको आनन्द देने वाली उनकी प्रभावना करना चाहिये। जिनके शरीरको देखकर करुणा उत्पन्न होती है ऐसे दीन-हीन मनुष्य भी लोकमें सदा अन्न-वस्त्रादि देकर रक्षा करनेके योग्य हैं। आरोग्य लाभके संस्थान जो औषधालय आदि हैं वे भी धन-दानसे तथा अपने शारीरिक सहयोगसे सदा पोषणीय हैं—पुष्ट करनेके योग्य हैं। जिनका हृदय करुणासे पूर्ण है ऐसे मनुष्योंको यथाशक्ति लोककल्याणकारी अन्य कार्य भी करनेके योग्य हैं ॥ ८०-८७ ॥

आगे प्रतिमाओंका वर्णन करते हैं—

अप्रत्याख्यानावरण मोहस्य क्षयोपशमात् ।
प्रत्याख्यानावृतेः किञ्चोदयस्य तारतम्यतः ॥ ८८ ॥
श्रावकोऽयं यथाशक्ति प्रतिमासु प्रवर्तते ।
प्रतिमाः सन्ति ता एता एकादश मिता भुवि ॥ ८९ ॥
दर्शनिको व्रती चापि सामायिकसमुद्यतः ।
प्रोषधव्रतधारी च सचित्तत्याग तत्परः ॥ ९० ॥
रात्रिभुक्तिपरित्यागी ब्रह्मचर्यविशोभितः ।
कृतारम्भपरित्यागः सङ्गत्यागेन शुम्भितः ॥ ९१ ॥

विगतानुमतिः किञ्च सन्तुष्टः स्वात्मसम्पदि ।
उद्दिष्टान्न परित्यागी तत्रस्थाः श्रावका मताः ॥ ९२ ॥
क्रमशोवर्धमानेन संयमेन सुशोभिता ।
एषां क्रमेण वक्ष्यामि लक्षणानि यथागमम् ॥ ९३ ॥

अर्थ—अप्रत्याख्यानावरण नामक चारित्रमोहके क्षयोपशम और प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयकी तरतमता—हीनाधिकतासे यह श्रावक अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिमाओंमें प्रवृत्त होता है—उन्हें धारण करता है। वे प्रतिमायें यहां ग्यारह हैं—१. दर्शनिक, २. व्रती, ३. सामयिकी, ४. प्रोषधव्रतधारी, ५. सचित्त त्यागी, ६. रात्रिभुक्ति त्यागी, ७. ब्रह्मचर्यसे सुशोभित, ८. आरम्भ त्यागी, ९. परिग्रहत्यागसे सुशोभित, १० अपनी आत्म-संपदामें संतुष्ट रहने वाला अनुमति त्यागी और ११. उच्छिष्टान्न परित्यागी, ये ग्यारह प्रतिमाएं हैं। इनमें स्थित रहने वाले व्रती, श्रावक कहलाते हैं। ये श्रावक क्रम से बढ़ते हुए चारित्र से सुशोभित रहते हैं। अब यहां क्रम से आगम के अनुसार इनके लक्षण कहूंगा ॥ ८८-९३ ॥

दर्शनिक श्रावक (प्रथम प्रतिमाधारी) का लक्षण

सम्यग्दर्शनसंपन्नः सप्तव्यसनदूरगः ।
अष्टमूलगुणैर्युक्तो दर्शनिकः समुच्यते ॥ ९४ ॥
देवशास्त्रगुरूणां यो मोक्षमार्गोपयोगिनाम् ।
श्रद्धया परया युक्तः सम्यग्दृष्टिः स उच्यते ॥ ९५ ॥
द्यूतं मांसं च मद्यं च वेश्याखेटकौ तथा ।
चौर्यं परपुरन्ध्रीणां सेवनं व्यसनं मतम् ॥ ९६ ॥
एषां यस्य परित्यागो दर्शनिकः स उच्यते ।
[1]मद्यं मांसं च क्षौद्रं च यो नाश्नाति कदाचन ॥ ९७ ॥
नोदुम्बरादिकं भुङ्क्ते न भुङ्क्ते निशि जात्वपि ।
कुरुते जीव कारुण्यं करोति जिनदर्शनम् ॥ ९८ ॥
नादत्तेऽगालितं नीरं स स्यान्मूल गुणाश्रयी ।
परमेष्ठिपदाम्भोजं शरणं गतवान् सुधीः ॥ ९९ ॥
एव दर्शनिको नूनं विरक्तो भवभोगतः ।
प्रथमः श्रावकः प्रोक्तो जैनागम विशारदैः ॥ १०० ॥

---

१. मद्य पल मधु निशासन पञ्चफली विरति पञ्चकाप्तनुति ।
जीवदया जलगालन मिति च क्वचिदष्ट मूलगुणाः ॥
—सागार धर्मामृत

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन से सहित हो, सात व्यसनों से दूर हो, आठ मूलगुणों से युक्त हो वह दर्शनिक श्रावक कहलाता है। जो मोक्ष मार्ग में उपयोगी देव शास्त्र गुरु की उत्कृष्ट श्रद्धा से युक्त हो, वह सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। जुआ, मांस, मदिरा, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री सेवन ये सात व्यसन माने गये हैं। इनका परित्यागी दर्शनिक होता है। जो कभी भी मद्य, मांस, मधु को नहीं खाता है, न उदुम्बर आदि पांच फलोंको खाता है, न कभी रात्रि में भोजन करता है, जीव दया पालता है, जिनदर्शन करता है और बिना छना पानी नहीं लेता, वह अष्टमूल गुणों का धारक होता है। साथ ही जो संसारके भोगोंसे विरक्त हो पञ्चपरमेष्ठीके चरण कमलोंकी शरण को प्राप्त हुआ है वह जैनागमके ज्ञाता पुरुषोंके द्वारा दर्शनिक नामक प्रथम श्रावक कहा गया है॥ ९४-१०० ॥

व्रतिक श्रावक (दूसरी प्रतिमा) का लक्षण

द्वादशव्रत सम्पन्नो जैनाचारपरायणः।
व्रतिकः कथ्यते लोके द्वितीयः श्रावकस्तथा॥ १०१॥

अर्थ—जो पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इन बारह व्रतोंसे सहित तथा जैन कुलोचित आचारमें तत्पर है वह जगत् में व्रतिक—द्वितीय प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है॥ १०१॥

सामायिकी (तृतीय प्रतिमा) का लक्षण

सामायिकं त्रिसन्ध्यासु प्रत्यहं विदधाति यः।
सामायिकी स सम्प्रोक्तस्तत्त्वचिन्तन तत्परः॥ १०२॥

अर्थ—जो प्रतिदिन तीनों संध्याओंमें सामायिक करता है तथा तत्त्व विचार करनेमें तत्पर रहता है वह सामायिकी—तृतीय प्रतिमाधारी श्रावक कहा गया है॥ १०२॥

प्रोषधिक (चतुर्थ प्रतिमा) का लक्षण

अष्टम्यां च चतुर्दश्यां प्रोषधं नियमेन यः।
करोति रुचि सम्पन्नः स हि प्रोषधिको मतः॥ १०३॥

अर्थ—जो रुचिपूर्वक अष्टमी और चतुर्दशीको नियमसे प्रोषध करता है वह प्रोषधिक चतुर्थ प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है॥ १०३॥

सचित्तत्यागी (पञ्चम प्रतिमा) का लक्षण

सचित्तं वस्तु नो भुङ्क्ते योऽम्भः पत्रफलादिकम् ।
स सचित्तपरित्यागी कथ्यते दयया युतः ॥ १०४ ॥

अर्थ--जो दयासे युक्त होता हुआ पानी, पत्र तथा फलादिक सचित्त वस्तुको नहीं खाता है वह सचित्त त्यागी पञ्चम श्रावक कहलाता है ॥ १०४ ॥

रात्रिभुक्ति त्यागी (षष्ठ प्रतिमा) का स्वरूप

रात्रिमध्ये न यो भुङ्क्ते भोजनं च चतुर्विधम् ।
रात्रिभुक्ति परित्यागी षष्ठोऽसौ श्रावकः स्मृतः ॥ १०५ ॥

अर्थ--जो रात्रिमें चार प्रकार का भोजन नहीं करता है वह रात्रिभुक्ति त्यागी षष्ठ श्रावक कहलाता है ॥ १०५ ॥

ब्रह्मचारी (सप्तम प्रतिमा) का लक्षण

दारमात्रपरित्यागी ब्रह्मचारी समुच्यते ।
विरक्तिभावमापन्नो विभीतश्च भवार्णवात् ॥ १०६ ॥

अर्थ--जो स्त्री मात्रका परित्यागी है, वैराग्यभावको प्राप्त है तथा संसार सागरसे भयभीत है वह ब्रह्मचारी सप्तम प्रतिमाका धारी श्रावक कहलाता है ॥ १०६ ॥

आरम्भत्यागी (अष्टम प्रतिमा) का लक्षण

पुरासंचितवित्तेषु सन्तुष्टोऽन्यगतस्पृहः ।
व्यापारस्य परित्यागी त्यक्तारम्भः समुच्यते ॥ १०७ ॥

अर्थ--जो पहले संचित किये हुए धनमें संतुष्ट है, अन्य धनमें जिसकी इच्छा समाप्त हो गई है और जिसने व्यापारका परित्याग कर दिया है वह आरम्भत्यागी अष्टम प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है ॥ १०७ ॥

अपरिग्रह (नवम प्रतिमा) का लक्षण

मुक्त्वा ह्यावश्यकं वस्त्रं भाजनं च कटादिकम् ।
यो नान्यद्ग्रहणमादत्ते सोऽपरिग्रह उच्यते ॥ १०८ ॥

अर्थ--जो आवश्यक वस्त्र, बर्तन और चटाई आदिको छोड़कर अन्य परिग्रहको ग्रहण नहीं करता है वह अपरिग्रह नवम प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है ॥ १०८ ॥

अनुमतिविरत (दशम प्रतिमा) का लक्षण

व्यापारगृह निर्माण प्रभृतौ नानुमोदनम् ।
कुरुते यः स विज्ञेयोऽनुमतेर्विरतोगृही ॥ १०९ ॥

अर्थ--जो व्यापार तथा गृह निर्माण आदिमें अनुमोदना नहीं करता है उसे अनुमतिविरत श्रावक जानना चाहिये ॥ १०९ ॥

उद्दिष्टत्याग (ग्यारहवीं प्रतिमा) का स्वरूप

उद्दिष्टं चान्नपानादि यो न गृह्णाति जातुचित् ।
ज्ञेय उद्दिष्ट सन्त्यागी स एकादश उत्तमः ॥ ११० ॥
उद्दिष्टत्याग भेदस्य द्वौ भेदौ च निरूपितौ ।
ऐलकः क्षुल्लकश्चेति प्रसिद्धौ चरणागमे ॥ १११ ॥
कौपीनमात्रकं धत्ते लिङ्गावरणमेलकः ।
क्षुल्लकस्तु समादत्तेऽतिरिक्तं खण्डवस्त्रकम् ॥ ११२ ॥
ऐलकः पाणिभोज्यस्ति क्षुल्लकः पात्रभोजिकः ।
उपविश्यैव भुञ्जाते क्षुल्लको ह्यैलकस्तथा ॥ ११३ ॥
ऐलकः कुरुते लुञ्चं केशानां च यथाविधि ।
क्षुल्लकोऽपनयेत् केशान् कर्तर्यापि करेण वा ॥ ११४ ॥
केकि पिच्छं च गृह्णीतो जीवानां रक्षणाय तौ ।
शौचबाधानिवृत्यर्थमाददाते कमण्डलुम् ॥ ११५ ॥
आर्या धत्ते सितां शाटीं षोडशहस्तसंमिताम् ।
क्षुल्लिका च समादत्ते धवलं तूत्तरच्छदम् ॥ ११६ ॥
ऐलकवत् परिज्ञेय आसां चर्यादिसंविधिः ।
आर्यिकास्तूपचारेण महाव्रतयुता मताः ॥ ११७ ॥
क्षुल्लिकाः श्राविका एव वर्तन्ते नात्र संशयः ।
यैः कृतं सफलं जन्म निर्दोषाचार धारणात् ॥ ११८ ॥
धन्यास्ते धन्यभागास्ते शुष्कप्रायभवार्णवाः ।
मुनीनां महतां वृत्तं रक्षितुं शक्नुवन्ति नो ॥ ११९ ॥
तेषां कृते प्रयासोऽयं श्रावकाचार वर्णने ।
जैनधर्मो यतः सर्वजीवानां हित कारकः ॥ १२० ॥

अर्थ--जो अपने उद्देश्यसे बनाये गये अन्न पानीको कभी ग्रहण नहीं करता वह उद्दिष्ट त्यागी एकादश प्रतिमाधारी उत्तम श्रावक माना गया है। उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाके दो भेद कहे गये हैं--एलक और क्षुल्लक। ये दोनों भेद चरणानुयोग में प्रसिद्ध हैं। ऐलक कौपीन

नामक लिङ्गका आवरण (लंगोटी) धारण करते हैं और क्षुल्लक कौपीनके सिवाय एक खण्ड वस्त्र भी ग्रहण करते हैं। ऐलक हाथमें ही भोजन करते हैं परन्तु क्षुल्लक पात्रभोजी होते हैं। ऐलक और क्षुल्लक- दोनों ही बैठकर आहार करते हैं। ऐलक, विधि अनुसार केशोंका लोंच करते हैं और क्षुल्लक लोंच, कैंची अथवा उस्तराके द्वारा केशोंको दूर करते हैं। दोनों ही जीव-रक्षाके लिये मयूरपिच्छ ग्रहण करते हैं और शौचबाधा की निवृत्तिके लिये कमण्डलु धारण करते हैं।

आर्यिका सोलह हाथकी सफेद साड़ी ग्रहण करती है और क्षुल्लिका साड़ीके ऊपर एक सफेद चद्दर भी रखती है। इन सबकी चर्याविधि ऐलकके समान जानना चाहिये। आर्यिकाएं उपचारसे महाव्रतसे युक्त कही गई हैं परन्तु क्षुल्लिका श्राविका ही है इसमें संशय नहीं करना है। ग्रन्थकर्ता कहते हैं कि जिन्होंने निर्दोष-चारित्र धारण करनेसे अपना जन्म सफल किया है वे धन्य हैं तथा धन्यभाग हैं, उनका संसार-सागर प्रायः सूख गया है। बड़े-बड़े मुनियोंका चारित्र धारण करनेको जिनकी शक्ति नहीं है उनके लिये श्रावकाचारका वर्णन करनेके लिये मेरा यह प्रयास है क्योंकि जैनधर्म सब जीवोंका हित करने वाला है॥ ११०-१२०॥

आगे इस प्रकरणका समारोप करते हैं--

वृत्तं मुनीनां गृहिणां नृणां च यथेच्छमाचर्य महोत्सवेन।
दुःखान्निवृत्योत्तमसौख्यराशौ मग्ना भवेयुः सततं पुमांसः॥ १२१॥
आचार एव प्रथमोऽस्ति धर्म इति श्रुतिं ये हृदये धरन्ते।
ते श्वभ्रदुःखाद् विनिवर्तमानाः स्वर्गापवर्गीय सुखं लभन्ते॥ १२२॥

अर्थ—ग्रन्थकारकी भावना है कि मुनियों तथा गृहस्थ मानवोंके चारित्रको हर्षपूर्वक इच्छानुसार धारणकर पुरुष दुःखसे निवृत्त होते हुए उत्तम-सुख समूहमें सदा निमग्न रहें। 'आचारः प्रथमो धर्मः' आचार पहला धर्म है इस श्रुतिको जो हृदयमें धारण करते हैं वे नरक के दुःखसे दूर रहते हुए स्वर्ग और मोक्षके सुखको प्राप्त होते हैं॥ १२१-१२२॥

इस प्रकार सम्यक्-चारित्र-चिन्तामणिमें श्रावकाचारका वर्णन करने वाला द्वादश प्रकाश पूर्ण हुआ।

त्रयोदश प्रकाश

संयमासंयमलब्धि-अधिकार

मंगलाचरणम्

संसाराब्धिनिमग्न जन्तुनिवहानुद्धर्तु कामैर्जिनै-
निर्दिष्टां सुदृढां सुरत्ननिभृतां रत्नत्रयीं पावनीम् ।
नौकां ये ह्यवलम्ब्य निर्वृतिपुरीं गच्छन्ति संमोदत-
स्तानेतान् सुगुरून् गुरून् गुणगणैर्नित्यं नमस्याम्यहम् ॥ १ ॥

अर्थ—संसार-सागर में निमग्न जीवसमूहोंका उद्धार करने के इच्छुक जिनेन्द्र भगवन्तोंके द्वारा निर्दिष्ट, सुदृढ़, सुरत्नोंसे परिपूर्ण और पवित्र रत्नत्रयी रूपी नौकाका अवलम्बन लेकर जो प्रमोदसे निर्वाणपुरीकी ओर जा रहे हैं तथा गुणोंके समूहसे श्रेष्ठ हैं उन, इन सद्गुरुओंको मैं नित्य ही नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

आगे देशचारित्र प्राप्त करनेके लिये अन्तरङ्ग कारणभूत कर्मोंकी क्या कैसी दशा होती है, इसका संक्षेपसे वर्णन करते हैं—

देशचारित्र संप्राप्त्यै कर्मणां कीदृशी स्थितिः ।
भवतीति विचारोऽयं संक्षेपादिह दीयते ॥ २ ॥

संयमासंयमो लोके चारित्रं देशतो मतम् ।
त्रसहिंसानिवृत्तत्वात्संयमो व्यवह्रियते ॥ ३ ॥

सत्त्वात्स्थावर हिंसायाः कथितोऽसंयमस्तथा ।
विवक्षाभेदतः सार्धं संयमासंयमो मतः ॥ ४ ॥
सद्दृष्टेरेवचारित्रं देशतः सर्वतोऽपि वा ।
संधर्तुमर्हता लोके मिथ्यादृष्टेरनर्हता ॥ ५ ॥

अर्थ—देशचारित्रकी प्राप्तिके लिये कर्मोंकी कैसी स्थिति होती है, यह विचार संक्षेपसे यहां दिया जाता है। संयमा-संयमको लोकमें देशचारित्र माना गया है। त्रस हिंसा से निवृत्त होनेके कारण संयम-का व्यवहार होता है और स्थावर हिंसाके विद्यमान रहनेसे असंयम कहा गया है। विवक्षाभेदसे संयमासंयम एक साथ माना गया है। देश-चारित्र और सकलचारित्रको धारण करनेकी योग्यता सम्यग्दृष्टिके

होती है, मिथ्यादृष्टिमें उसकी अनर्हता—अयोग्यता या अपात्रता है ॥ २-५ ॥

आगे उपशामनाका लक्षण तथा उसके भेद बताते हैं—

उभयों लब्धिबाहतुं प्रतिबन्धककर्मणाम् ।
नियोगेन भवत्येव विधिरत्रोपशामना ॥ ६ ॥
प्रकृत्यादिविभेदेन चतुर्धा सा च सम्मता ।
आदिमाष्टकषायाणामुदयाभाव एव हि ॥ ७ ॥
संयमासंयमप्राप्तौ प्रकृत्युपशमो मतः ।
यद्यपि वर्तते चात्र प्रत्याख्यानावृतेस्तथा ॥ ८ ॥
सञ्ज्वलनाख्य मोहस्य प्रकृतीनां च सन्ततेः ।
नवानां नोकषायाणामुदयोऽपि यथाविधि ॥ ९ ॥
तथाप्यत्र न कर्तृत्वं देशचारित्रघातने ।
किञ्चिद्धि वर्तते तेषां देशघातित्वहेतुतः ॥ १० ॥
प्रत्याख्यानावृतेरस्ति यद्यपि सर्वघातिता ।
तथापि देशवृत्तस्य घातने देशघातिता ॥ ११ ॥
ततस्तस्युदये तस्य न बाधा तत्र वर्तते ।
सञ्ज्वलनाकषायास्तु सन्त्येव देशघातिनः ॥ १२ ॥

अर्थ—चारित्रलब्धि और देशचारित्र—दोनों लब्धियोंको प्राप्त करनेके लिये नियमसे प्रतिबन्धक कर्मोंको उपशामना विधि होती है। प्रकृति आदिके भेदसे वह उपशामना चार प्रकारकी मानी गई है। अर्थात् प्रकृति-उपशामना, स्थिति-उपशामना, अनुभाग-उपशामना और प्रदेश-उपशामनाके भेदसे उपशामनाके चार भेद हैं।

संयमा-संयमकी प्राप्तिमें आदिके आठ कषाय—अनन्तानुबन्धी चतुष्क और अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कका उदय नहीं रहना प्रकृत्युपशामना मानी गई है। यद्यपि यहां प्रत्याख्यानावरण चतुष्क, संज्वलन चतुष्क और नोकषायोंका यथाविधि उदय रहता है तथापि देशचारित्रके घातनेमें उनका कुछ भी कर्तृत्व नहीं है। क्योंकि वे देशचारित्रके घातनेमें देशघाति रहते हैं। यद्यपि प्रत्याख्यानावरण सर्वघाति प्रकृति है तथापि देश-संयमके घातनेमें उसे देशघाति माना जाता है। इसलिये उसका उदय रहते हुए भी देश-संयममें बाधा नहीं आती। संज्वलन कषाय चतुष्क और नोकषाय नवक तो देशघाति हैं ही ॥ ६-१२॥

आगे स्थिति-उपशामना, अनुभाग-उपशामना और प्रदेश-उपशामनाका कथन करते हैं—

बाधक प्रकृतीनां यो नोदयस्तत्र वर्तते।
स्थित्युपशमनासंका द्वितीयात्वत्र कथ्यते ।। १३ ।।
सर्वकर्मप्रकृतीनामन्तःकोटी कोटी स्थितिः।
एतस्या अधिकस्तस्या नोदयस्तत्र वर्तते ।। १४ ।।
प्राप्तोदयकषायाणां सर्वघाति प्रदेशकाः।
आयान्ति ह्युदयं नैव सानुभागोपशामना ।। १५ ।।
पूर्वोक्तानां कषायाणां यः प्रदेशोदयो न हि।
स एव च प्रदेशानां कथ्यते चोपशामना ।। १६ ।।

अर्थ—बाधक प्रकृतियोंका जो वहाँ उदय नहीं रहता है वह एक स्थित्युपशामना है और द्वितीय स्थित्युपशामना यह कहलाती है कि सर्व कर्म प्रकृतियों को स्थिति अन्तःकोटी कोटी ही रह जातो है इससे अधिक स्थितिका वहां उदय नहीं रहता। उदयागत कषायोंके सर्वघाति प्रदेश उदयमें नहीं आते, यही अनुभागोपशामना है। पूर्वोक्त कषायोंका जो प्रदेशोदय नहीं है वही प्रदेशोपशामना कही जाती है ।। १३-१६ ।।

औपशमिकसम्यक्त्वसहिता वेदकेन वा।
क्षायिकेणयुता वापि मनुजाः शान्तचेतसः ।। १७ ।।
क्षायिकेतर सम्यक्त्व युगमुक्ता मृगास्तथा।
लभन्ते देशचारित्रं कषायस्यातिमान्द्यतः ।। १८ ।।
भव्या निकट संसारा विरक्ता भवभोगतः।
किं किं न साध्यते लोके कषायोद्रेकहानितः ।। १९ ।।
मिथ्यादृगपि लोकेऽस्मिन् सम्यक्त्वं देशसंयमम्।
युगपल्लभते क्वापि काललब्धि प्रभावतः ।। २० ।।
देवायुर्वर्जयित्वा चेतरेषामायुषां पुनः।
सत्ता तु विद्यते येषां तिरश्चां वा नृणां तथा ।। २१ ।।
तस्मिन् भवे न ते जीवा लभन्ते देशवृत्तकम्।
यैर्नबद्धं परस्यायुर्बद्धं चेत्सुरसंज्ञकम् ।। २२ ।।
योग्यास्त एव सम्यत्र ग्रहीतुं देश संयमम्।
व्यवस्थेयं बुधैर्बोध्या संयमग्रहणेऽपि च ।। २३ ।।

अर्थ—औपशमिक, वेदक अथवा क्षायिक सम्यक्त्वसे सहित, शान्तचित्तके धारक मनुष्य और क्षायिक सम्यक्त्व को छोड़कर शेष दो सम्यग्दर्शनोंसे सहित तिर्यञ्च भी कषायोंकी मन्दतासे देशचारित्रको प्राप्त होते हैं। ये मनुष्य और तिर्यञ्च भव्य, निकट संसारी और भवभोगोंसे विरक्त रहते हैं। ठीक ही है लोकमें कषायों की मन्दता से क्या-क्या सिद्ध नहीं होता है। इस लोकमें मिथ्यादृष्टि भी कहीं काललब्धिके प्रभावसे एक साथ सम्यक्त्व और देशसंयम को एक साथ प्राप्त कर लेते हैं। जिन मनुष्य और तिर्यञ्चोंके देवायु को छोड़कर परभव सम्बन्धी अन्य आयु को सत्ता है वे देशचारित्र को प्राप्त नहीं होते। देशचारित्र उन्हें प्राप्त होता है जिन्होंने परभव सम्बन्धी आयु का बन्धन किया हो और किया हो तो देवायुका ही किया हो, वे ही इस जगत्में देशसंयम ग्रहण करनेके योग्य होते हैं। यह व्यवस्था संयम—सकलचारित्र ग्रहण करनेके विषयमें भी ज्ञानी-जनोंके द्वारा ज्ञातव्य है ॥ १७-२३ ॥

आगे देश-चारित्रको धारण करते समय प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीव कितने करण करता है? यह कहते हैं—

आद्योपशमसम्यक्त्व सहितो मानवो मृगः।
लभते यदि चारित्रं संयमासंयमाभिधम् ॥ २४ ॥
परिणामविशुद्ध्याढ्यः कुरुते करणत्रयम्।
अधःप्रवृत्तप्रभृति भावशुद्धिसमन्वितम् ॥ २५ ॥

अर्थ—प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि मनुष्य अथवा तिर्यञ्च यदि संयमासंयम नामक देशचारित्र को ग्रहण करता है तो वह भावोंको विशुद्धिसे युक्त होता हुआ भावशुद्धि सहित अधःप्रवृत्त आदि तीनों करण करता है ॥ २४-२५ ॥

आगे वेदक सम्यग्दृष्टि अथवा वेदक कालके भीतर रहने वाला मिथ्यादृष्टि जीव, देशसंयम प्राप्त करनेके लिये कितने करण करता है यह कहते हैं—

वेदकेन युतः कश्चिद् यद्वा मिथ्यादृगेव वा।
अन्तर्वेदक कालस्थः समं वेदक सद्दृशा ॥ २६ ॥
प्राप्नोति देशचारित्रं युगपत् क्षीणसंसृतिः।
अनिवृत्तिं विहायासौ कुरुते करणद्वयम् ॥ २७ ॥

अर्थ—वेदक सम्यग्दर्शनसे सहित अथवा वेदक कालके भीतर स्थित कोई अल्पसंसारी मिथ्यादृष्टि जीव वेदक सम्यग्दर्शन और देशचारित्र-को एक साथ प्राप्त करता है तो वह अनिवृत्तिकरण को छोड़कर शेष दो करण करता है ॥ २६-२७ ॥

आगे किस करणमें क्या कार्य होता है, यह कहते हैं—

अधःप्रवृत्ततः पूर्वं जायमान विशुद्धितः।
आयुर्वर्जमशेषाणां कर्मणां स्थितिबन्धनम् ॥ २८ ॥
कुरुतेऽन्तः कोटीकोटी प्रमितं पुण्यकर्मणाम्।
अनुभागं चतुःस्थानमशुभानां तु कर्मणाम् ॥ २९ ॥
द्विस्थानीयं विधायासौ भवेद् देशव्रतोन्मुखः।
अधःप्रवृत्तकरणे विशुद्धिरेव वर्धते ॥ ३० ॥
स्थितिकाण्डकघातोऽनुभागकाण्डक संक्षतिः।
भवितुं नार्हतस्तत्र योग्यशुद्धेरभावतः ॥ ३१ ॥
न स्यादत्र गुणश्रेणी न चात्र गुण संक्रमः।
अपूर्वकरणे प्राप्ते भवन्त्येतानि सर्वतः ॥ ३२ ॥
कुर्वन्नेतानि सर्वाणि लभते देशतो व्रतम्।
देशव्रती सदा कुर्यान्निर्जरां गुणश्रेणितः ॥ ३३ ॥

अर्थ—अधःप्रवृत्तसे पूर्व होने वाली विशुद्धिसे यह जीव आयुकर्म को छोड़कर शेष कर्मों का स्थितिबन्ध अन्तःकोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण करता है, पुण्य प्रकृतियोंके अनुभाग को चतुःस्थानीय गुड, खांड, शर्करा अमृत रूप और पाप प्रकृतियोंके अनुभाग को द्विस्थानीय-निम्ब और कांजीर रूप करके देशव्रत धारण करनेके सन्मुख होता है। पश्चात् अधःप्रवृत्त करण को प्राप्त होता है। उसमें इसकी विशुद्धि ही बढ़ती है। योग्य विशुद्धिका अभाव होनेसे स्थिति-काण्डक-घात और अनुभाग-काण्डक-घात नहीं होते। अतः प्रवृत्तकरणमें न गुण श्रेणी निर्जरा होती है और न गुणसंक्रमण। पश्चात् अपूर्वकरणके प्राप्त होनेपर ये सब कार्य सब प्रकारसे होने लगते हैं। इन सब कार्योंको करता हुआ मनुष्य अथवा तिर्यञ्च देशव्रतको प्राप्त होता है। देशव्रती गुण श्रेणी निर्जरा को सतत् करता है ॥ २८-३३ ॥

आगे संयतासंयत जीव किस गुणस्थानवर्ती हैं, यह कहते हैं—

संयतासंयता जीवा पञ्चमस्थानवर्तिनः।
सम्यक्त्वधर्मवोपेताः कथ्यन्ते जिनसूरिभिः ॥ ३४ ॥

कदाचिद् भावशैथिल्यादन्मीचैरपि पतन्ति ते।
पुनर्भावविशुद्धित्वात्तत्रैवा यान्ति शीघ्रतः॥ ३५॥
देशव्रतयुताः केचिन्मनुजा भावशुद्धितः।
महाव्रतानि संगृह्य सप्तमं यान्ति धामकम्॥ ३६॥
भावतः संयमो यत्र वर्तते द्रव्यसंयमः।
नियमेन भवत्येव भावो द्रव्ये तु भाज्यतः॥ ३७॥

अर्थ—जैनाचार्यों द्वारा सम्यग्दर्शन रूप वैभवसे सहित संयता-संयत देशचारित्रके धारक पञ्चम गुणस्थानवर्ती कहे जाते हैं। वे कदाचित् भावोंको शिथिलतासे यदि नीचे गुणस्थानोंमें भी आते हैं तो भावोंकी विशुद्धतासे शीघ्र ही पञ्चम गुणस्थानमें हो आ जाते हैं। देशव्रतसे सहित कितने हो मनुष्य महाव्रत ग्रहणकर सप्तम गुणस्थानको प्राप्त होते हैं। जहां भावसंयम होता है वहाँ द्रव्यसंयम नियमसे होता है परन्तु द्रव्यसंयमके रहते हुए भावसंयम भाज्य है—होता भी है और नहीं भी होता॥ ३४-३७॥

भावार्थ—प्रतिपक्षी कषायका क्षयोपशम होनेसे आत्मामें जो विशुद्धता होती है वह भाव-संयम कहलाता है तथा शरीरके द्वारा पदानुरूप क्रियाओंका होना द्रव्यसंयम है। जिसके प्रतिपक्षी कषायोंका अभाव होनेसे भावोंमें विशुद्धता उत्पन्न हुई है उसका बाह्य वेष तथा आचरण नियमसे भावानुरूप होता है परन्तु प्रतिपक्षी कषायके मन्द या मन्दतर उदयमें जो द्रव्यसंयम बना है उसके भाव-संयम होता भी है और नहीं भी होता। भावसंयम या भावसंयमा-संयमको परीक्षा प्रत्यक्ष ज्ञानी हो कर सकते हैं, साधारण लोग नहीं। वे तो चरणानुयोग के अनुसार निर्दोष आचरणको देखकर उसे संयत या संयतासंयत मानते हैं। इसोलिये आहार-दान तथा भक्ति-वन्दना आदिमें चरणानुयोगका आलम्बन ग्राह्य बतलाया गया है, करणा-नुयोग का नहीं।

अब देशचारित्रका धारक मनुष्य या तिर्यञ्च कहां उत्पन्न होता है, यह कहते हैं—

देशव्रतप्रभावेण मनुजाः षोडशावधिम्।
स्वर्गं यान्ति ततश्च्युत्वा भवन्ति पुरुषोत्तमाः॥ ३८॥
तिर्यञ्चोऽपि समायान्ति त्रिदिवं षोडशावधिम्।
ततश्च्युत्वा महीं यान्ति गृहीत्वा मानुषं भवम्॥ ३९॥

अर्थ—देशव्रतके प्रभावसे मनुष्य सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं और वहांसे च्युत होकर उत्तम पुरुष होते हैं। व्रती तिर्यञ्च भी सोलहवें स्वर्ग तक जाते हैं और वहाँसे च्युत हो मनुष्य भव लेकर पृथिवी पर आते हैं॥ ३८-३९॥

आगे देशव्रती तिर्यञ्चों और मनुष्योंका निवास बतलाते हैं—

देशव्रतेन संयुक्तास्तिर्यञ्चो मानवास्तथा।
सार्धद्वयेषु द्वीपेषु निवसन्ति यथास्थिति॥ ४०॥
केचित् तिर्यग्भवा जीवा देशव्रत विभूषिताः।
स्वयंभूरमणे द्वीपे निवसन्ति प्रमोदतः॥ ४१॥
एते पूर्वभवायात सुसंस्कार प्रभावतः।
उपदेशादृते सन्ति देशव्रतं विभूषिताः॥ ४२॥
नियमेन स्वर्गं यान्ति भीरवो जीवघाततः।
विरक्ता भवभोगेभ्यः प्रकृत्या शान्तचेतसः॥ ४३॥

अर्थ—देशव्रतसे सहित तिर्यञ्च तथा मनुष्य अपनी-अपनी स्थितिके अनुसार अढ़ाई द्वीपोंमें निवास करते हैं। देशव्रतसे विभूषित कोई तिर्यञ्च स्वयंभूरमण द्वीपमें हर्षपूर्वक निवास करते हैं। ये तिर्यञ्च, पूर्वभवसे आये हुए सुसंस्कारोंके प्रभावसे उपदेशके बिना ही देशव्रतसे विभूषित होते हैं, जीवघातसे डरते रहते हैं, सांसारिक भोगोंसे विरक्त रहते हैं और प्रकृतिसे शान्तचित्त होते हैं एवं नियमसे स्वर्ग जाते हैं॥ ४०-४३॥

भावार्थ—मानुषोत्तर पर्वतसे आगे और स्वयंभूरमण द्वीपके मध्यमें स्थित स्वयंप्रभ पर्वतसे इस ओर असंख्यात द्वीप समुद्रोंमें जघन्य भोगभूमिकी रचना है, वहाँ पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और देवोंका निवास है, परन्तु स्वयंप्रभ पर्वतसे लेकर अर्धस्वयंभूरमण द्वीप, स्वयंभूरमण समुद्र और उसके बाद कोनोंमें कर्मभूमिकी रचना है। यहाँके कोई-कोई तिर्यञ्च पूर्वभवागत संस्कारसे उपदेशके बिना ही देशव्रत धारण कर लेते हैं तथा उसके प्रभावसे स्वर्ग जाते हैं। मनुष्योंका अस्तित्व अढ़ाई द्वीपसे बाहर नहीं है।

आगे इस प्रकरणका समारोप करते हुए इन्द्रिय विजयका उपदेश देते हैं—

अये प्रमादिनो नराः समाहिताः स्त सत्वरम्।
इमे भ्रमन्ति तस्करा हृषीकवेषधारिणः॥ ४४॥

त्वदीय वृत्तरत्नमत्र दुर्लभं परं मतं।
इमे हरन्ति वञ्चनापरा नराधमा इह ॥ ४५ ॥
प्रमादनिद्रितां दशां प्रमुञ्चत प्रमुञ्चत।
धरस्व संयमं द्रुतं नियम्य दुर्धरं मनः ॥ ४६ ॥
पराजितो विधीयतां हृषीक शत्रुसंचयः।
मनुष्य जन्म सार्थकं विधीयतां विधीयताम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—ऐ प्रमादो मनुष्यों! शीघ्र ही सावधान होओ, इन्द्रिय वेषको धारण करनेवाले ये चोर घूम रहे हैं। तुम्हारा चारित्ररूपी रत्न इस लोकमें दुर्लभ माना गया है। धोखा देनेमें तत्पर रहने वाले ये अधम मनुष्य उस संयमरूपी रत्नका हरण कर रहे हैं, अपनी अत्यधिक निद्रा दशाको छोड़ो, छोड़ो। दुर्धर मनको रोककर शीघ्र ही संयमको धारण करो। इन्द्रियरूपी शत्रुओंके समूहको पराजित करो और मनुष्य जन्मको सार्थक करो, सार्थक करो ॥ ४४-४७ ॥

इस प्रकार सम्यक्-चारित्र-चिन्तामणि ग्रन्थमें संयमा-
संयमलब्धिका संक्षिप्त वर्णन करनेवाला
त्रयोदश प्रकाश पूर्ण हुआ।



प्रशस्ति

चारित्रचिन्तामणिरेष पुंसां
मनोरथान् पूर्णतरान् करोतु ।
संत्यज्य भोगान् भवपातहेतून्
जगज्जनाः स्वात्मपरा भवन्तु ।। १ ।।

अर्थ—यह चारित्र-चिन्तामणि ग्रन्थ पुरुषोंके मनोरथोंको परिपूर्ण करे और जगत्के जोव संसारपतनके कारणभूत भोगोंको छोड़कर स्वकोय आत्मामें तत्पर हो—आत्मोय स्वभावमें रमण करें ।। १ ।।

शशि शशि बाणाक्षि मिते (२५११)
वीराब्दे सोमवासरे रम्ये ।
अपराह्णे गगनतले
श्यामाब्दैः संवृते रचितः ।। २ ।।

अर्थ—२५११ वीर-निर्वाण संवत्सरमें रमणोय सोमवारके दिन अपराह्ण कालमें जबकि आकाश श्याम मेघोंसे घिरा हुआ था, यह ग्रन्थ रचा गया ।। २ ।।

आषाढ़मासीय वलक्षपक्षे
हरित्तृणालोलसबच्छ कक्षे ।
द्वितीय वारेण समागतायां
जयातिथौ पूर्ति मयं जगाम ।। ३ ।।

अर्थ—हरे-हरे घासके समूहसे जब वन सुशोभित है तब आषाढ़ मासके शुक्ल पक्षकी द्वितीय बार[1] आई हुई जया तिथि—अष्टमी तिथिमें यह ग्रन्थ पूर्णताको प्राप्त हुआ ।। ३ ।।

---

१. 'नन्दा भद्रा जया रिक्ता पूर्णा च तिथयः क्रमात्' ज्योतिष के इस उल्लेखानुसार प्रत्येक पक्ष में प्रतिपदा से लेकर पञ्चमी तक नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता और पूर्णा ये पांच तिथियां आती हैं। पुनः षष्ठी से दशमी तक यही नन्दा आदि तिथियां और एकादशी से पूर्णिमा तक पुनः इसी नाम से तिथियां आती हैं। इस तरह नन्दा आदि तिथियां प्रत्येक पक्ष में तीन-तीन बार आती हैं। अतः अष्टमी दूसरी बार आई हुई जया तिथि है।

गल्लीलाल तनूजेन जानक्युदरसंभुवा ।
दयाचन्द्रस्य शिष्येण सागरग्रामवासिना ॥ ४ ॥
पन्नालालेन बालेन रचितोऽल्पधिया मया ।
जीयाच्चिन्तामणिर्लोके चारित्राद्यो निरन्तरम् ॥ ५ ॥
अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा जाता ग्रन्थ विनिर्मितौ ।
याः काश्चित् त्रुटयः सन्ति शोधनीया बुधैस्तु ताः ॥ ६ ॥
जिनाज्ञा भङ्गतो नूनं बिभेमि भूरिभूरिशः ।
अतो मत्स्खलनं दृष्ट्वा हसन्तु बुधोत्तमाः ॥ ७ ॥
त्रुटीनां शोधने कुर्युविद्वान्सो महतीं कृपाम् ।
सर्वेषां सहयोगेन जैनवाक्प्रसरो भवेत् ॥ ८ ॥

अर्थ—गल्लीलालके पुत्र, जानकी माताके उदरसे उत्पन्न, दयाचन्द्र जीके शिष्य, सागर-निवासी, अल्पबुद्धि बालक पन्नालालके द्वारा रचा हुआ यह सम्यक्-चारित्र-चिन्तामणि ग्रन्थ निरन्तर जयवन्त रहे। ग्रन्थकी रचनामें अज्ञान अथवा प्रमादसे जो कोई त्रुटियां हुई हैं उन्हें विद्वज्जन शुद्ध करें। सचमुच ही मैं जिनाज्ञा भङ्गसे अत्यधिक भयभीत रहता हूँ। इसलिये उत्तम ज्ञानी जन मेरी त्रुटि देखकर हँसे नहीं। किन्तु विद्वज्जन त्रुटियोंको शुद्ध करनेमें महती कृपा करें। भावना यह है कि सबके सहयोगसे जिनवाणीका प्रसार हो ॥ ४-८ ॥



परिशिष्ट

आहार सम्बन्धी ४६ दोषों का विवरण

मूलाचारके पिण्ड-शुद्धि अधिकारमें मुनियोंके आहार सम्बन्धी ४६ दोषोंके नाम निम्न प्रकार आये हैं—

सोलह उद्गम दोष

१. औद्देशिक, २. अध्यधि, ३. पूति, ४. मिश्र, ५. स्थापित, ६. बलि, ७ प्रावर्तित, ८. प्रादुष्कार, ९. क्रीत, १० प्रामृष्य, ११. परिवर्तक, १२. अभिघट, १३. उद्भिन्न, १४. माला रोह, १५. आच्छेय और १६. अनीशार्थ।

इनके सिवाय अधःकर्म नामका एक महादोष और भी है जो पञ्चसूनाओंसे सहित हैं तथा गृहस्थके आश्रित है। षट्काय जीवोंके वधका कारण होनेसे महादोष कहा गया है। विदित होनेपर मुनि ऐसा आहार नहीं लेते। औद्देशिक आदि दोषोंकी संक्षिप्त परिभाषा इस प्रकार है—

१. औद्देशिक—सामान्यजनको उद्देश्य कर बनाया गया आहार उद्देश है, पाखण्डी साधुओंको लक्ष्य कर बनाया गया अन्न समुद्देश है, आजीवक, तापसी, बौद्ध-भिक्षुक तथा छात्रोंको लक्ष्यकर बनाया हुआ अन्न आदेश कहलाता है और निर्ग्रन्थ साधुओंको लक्ष्यकर बनाया हुआ समादेश है। यह चारों प्रकारका आहार औद्देशिक आहार कहलाता है। यह आहार खासकर मेरे लिये ही बनाया गया है, ऐसा ज्ञान होने पर भी जो साधु उस आहारको लेते हैं उन्हें यह औद्देशिक दोष लगता है।

२. अध्यधि दोष—श्रावक अपने लिये भोजन बना रहा था उसी समय किसी साधुको आया देख उसमें जल तथा चावल आदि अधिक डाल देना अध्यधि दोष है।

३. पूति दोष—प्रासुक आहार भी यदि अप्रासुक—सचित्त आदिसे मिश्रित हो तो वह पूति दोष कहलाता है। वह चूल्हा, ओखली, कलछी, बर्तन तथा गन्धके भेदसे पांच प्रकारका है। जैसे इस नये चूल्हे पर भात बनाकर पहले साधुको दूँगा तत्पश्चात् अपने काममें लूँगा, इस भावसे

बनाया आहार पूति दोषसे दूषित माना जाता है। इसी तरह ओखली आदि के विषयमें जानना चाहिये।

४. **मिश्र दोष**—जो अन्न, गृहस्थों और पाखण्डियोंको साथ-साथ दिया जाता है, वह मिश्र दोष है।

५. **स्थापित दोष**—जिस बर्तनमें भात आदि बना है उससे निकाल कर चौकाके बाहर अपने घरमें रखना या अन्यके घरमें पहुंचाना स्थापित दोष है।

६. **बलि दोष**—यक्ष, नाग आदिके लिये जो नैवेद्य तैयार किया गया है, वह बलि कहलाता है। इस बलिमेंसे कुछ आहार साधुको देना बलि दोष है।

७. **प्रावर्तित दोष**—अन्य तिथियोंमें देने योग्य आहारको पूर्व तिथियोंमें देना और पूर्वतिथिमें देने योग्य आहार आगामी तिथिमें देना अथवा पूर्वाह्णमें देने योग्य वस्तु अपराह्णमें देना और अपराह्ण में देने योग्य वस्तु प्रावर्तित पूर्वाह्णमें देना प्रावर्तित दोष है। यह प्राभृत दोष भी कहलाता है।

८. **प्रादुष्कार दोष**—बर्तन, भोजन तथा स्थान आदिका दिखावा कर बनाया हुआ आहार प्रादुष्कार दोषसे दूषित माना गया है।

९. **क्रीत दोष**—साधुको आया देख अपने यहाँ कमी होनेपर घी, दूध, फल आदिको तत्काल खरीदकर देना, क्रीत दोष है।

१०. **प्रामृष्य दोष**—अपने घर साधुके आने पर पड़ोसीके यहाँसे उधार लेकर किसी वस्तुको देना प्रामृष्य दोष है, इसे ऋण दोष भी कहते हैं।

११. **परिवर्तक दोष**—साधुके आनेपर अपने घर मोटे चावलोंसे बना भात आदि आहार पड़ोसीके घरसे अच्छे चावलोंका भात आदि बदल कर देना परिवर्तक या परावर्तित दोष है।

१२. **अभिघट दोष**—जिस चौकामें साधु गये हैं उस चौकाका आहार तो ग्राह्य है ही उसके अतिरिक्त सरल पंक्तिमें स्थित तीन या सात घरसे आया हुआ आहार भी ग्राह्य है। इससे अधिक दूरीसे आया आहार ग्राह्य नहीं है। वह अभिघट दोषसे दूषित कहलाता है।

१३. **उद्भिन्न दोष**—साधुके सामने किसी बर्तनके ढक्कन और शील आदिको खोलकर उसमेंसे निकाली हुई वस्तु उद्भिन्न दोषसे दूषित है। इसी तरह फल आदिको साधुके सामने ही बनाकर तैयार करना उद्भिन्न दोष है।

१४. **मालारोह दोष**—साधुके सामने ही नसैनी आदिसे ऊंचे स्थान पर चढ़कर लाई हुई वस्तु मालारोह दोषसे दूषित है।

१५. **आच्छेद्य दोष**—अपनी इच्छा न रहते हुए भी किसी राजा आदिसे आतङ्कित होकर जो आहार दिया जाता है वह आच्छेद्य दोष से दूषित माना गया है।

१६. **अनीशार्थ दोष**—जिस देय पदार्थका अर्थ—कारण अप्रधान पुरुष हो अर्थात् दाता स्वयं तो दान नहीं देता किन्तु अन्य लोगोंसे दिलाता है वह अनीशार्थ कहलाता है, ऐसे द्रव्यको यदि साधु लेता है तो वह अनीशार्थ दोष कहलाता है। इस दोषका स्पष्ट विवेचन मूलाचार की आचार-वृत्तिसे जानना चाहिये।

सोलह उत्पादन दोष

१. धात्री, २. दूत, ३. निमित्त, ४. आजीव, ५. वनीपक, ६. चिकित्सा, ७. क्रोधी, ८. मानी, ९. माया, १०. लोभ, ११. पूर्व स्तुति, १२. पश्चात् स्तुति, १३. विद्या, १४. मन्त्र, १५. चूर्ण योग और १६. मूल कर्म। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

१. **धात्री दोष**—धात्री—धायके समान गृहस्थके बालकको स्वयं विभूषित करना अथवा उसके उपाय बताना। बालकके साथ साधुका स्नेह देख गृहस्थ साधुको आहार देता है और साधु उसे लेता है, वह धात्री दोष है।

२. **दूत दोष**—एक ग्रामसे दूसरे ग्राम जानेपर पूर्व ग्राममें गृहस्थके सम्बन्धीका समाचार अन्य ग्रामके सम्बन्धीको बताना। ये साधु हमारा संदेश लाये हैं इससे प्रभावित हो गृहस्थ साधुको जो आहार देता और साधु उसे लेता है तो वह दूत दोष है।

३. **निमित्त दोष**—गृहस्थको ज्योतिष आदि अष्टाङ्ग निमित्तका ज्ञान कराकर प्रभावित करना और उसके माध्यमसे जो आहार प्राप्त किया जाता है, वह निमित्त दोष है।

४. **आजीवक दोष**—जाति, कुल, शिल्प, तप और ईश्वरता ये आजीव हैं, इनसे आहार प्राप्त करना आजीवक दोष है। ये साधु हमारी जाति या कुलके हैं, ये अनेक शिल्पके ज्ञाता हैं, तपस्वी हैं और ये पहले हमारे स्वामी रहे हैं अथवा इनकी बड़ी प्रभुता रही है, इस विचारसे जो आहार दिया जाता है और साधु उसे लेता है तो वह आजीवक दोष है।

५. **वनीपक दोष**—'अमुक-अमुक व्यक्तियोंको दान देनेमें पुण्य होता है या नहीं' इस प्रकार दाताके पूछने पर उसके अनुकूल वचन कहना तथा उससे प्रसन्न होकर दाता जो आहार देता है और साधु लेता है तो वह वनीपक दोष है।

६. **चिकित्सा दोष**—गृहस्थको किसी रोगकी चिकित्सा (औषध) बताना उससे प्रभावित होकर गृहस्थ आहार देता है तथा साधु उसे ग्रहण करता है तो वह चिकित्सा दोष होता है।

७. **क्रोध दोष**—क्रोध दिखाकर गृहस्थसे आहार प्राप्त करना क्रोध दोष है।

८. **मान दोष**—मान दिखाकर गृहस्थसे आहार प्राप्त करना मान दोष है।

९. **माया दोष**—माया दिखाकर गृहस्थसे आहार लेना माया दोष है।

१०. **लोभ दोष**—लोभ दिखाकर गृहस्थसे आहार लेना लोभ दोष है।

११. **पूर्वस्तुति दोष**—आहारके पूर्व ही गृहस्थकी प्रशंसा करना जैसे आप बड़े दानी हैं, आपके सिवाय इस ग्राममें साधुओंको आहार देने वाला कौन है? इस प्रकारकी प्रशंसासे प्रभावित होकर गृहस्थ जो आहार देता है और साधु उसे लेता है तो वह पूर्वस्तुति दोष है।

१२. **पश्चात् स्तुति दोष**—आहार लेनेके बाद गृहस्थकी प्रशंसा करना जिससे वह पुनः भी आहार दे। इस तरह जो आहार प्राप्त किया जाता है वह पश्चात् स्तुति दोष है।

१३. **विद्या दोष**—मैं तुम्हें अमुक विद्या दूँगा। इस प्रकार विद्याका प्रलोभन देकर गृहस्थसे जो आहार लिया जाता है वह विद्या दोष है*।

* विद्या और मन्त्रमें अन्तर—विद्या सिद्ध करने पर काम देती है और मन्त्र, आज्ञा मात्रसे काम देता है।

१४. मन्त्र दोष—मैं तुम्हें अमुक मन्त्र दूंगा, इस तरह मन्त्रके प्रलोभनसे प्राप्त किया हुआ आहार, मन्त्र दोषसे दूषित है।

१५. चूर्ण दोष—नेत्रोंका अञ्जन या शरीरको विभूषित करने वाले चूर्ण बनानेकी विधि बताकर उससे प्रभावित गृहस्थसे आहार लेना चूर्ण दोष है।

१६. मूलकर्म दोष—जो वश में नहीं है उसे वशमें करनेकी या जो बिछुड़ा है उसे मिलानेकी विधिको मूल कर्म कहते हैं। इससे जो आहार प्राप्त किया जाता है, वह मूलकर्म दोषसे दूषित है।

दस अशन दोष

अशन दोष १० प्रकारके हैं—१. शङ्कित, २. म्रक्षित, ३. निक्षिप्त, ४. पिहित, ५. संव्यवहरण, ६. दायक, ७. उन्मिश्र, ८. अपरिणत, ९. लिप्त और १०. व्यक्त। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

१. शङ्कित—'यह आहार मेरे योग्य है, या अयोग्य है', इस प्रकारके अनिर्णीत आहारको लेना शंकित दोष है।

२. म्रक्षित—घी, तेल आदिसे चिकने बर्तनोंमें रक्खा हुआ या चिकने हाथोंसे दिया गया आहार म्रक्षित दोषसे दूषित है।

३. निक्षिप्त—सचित्त पृथिवी, जल, अग्नि तथा बीज आदि पर रक्खा हुआ आहार निक्षिप्त कहलाता है। ऐसे आहारको लेना निक्षिप्त दोष है।

४. पिहित—जो सचित्त वस्तुसे ढका हो अथवा जो किसी भारी अचित्त वस्तुसे ढका हो उसे पिहित कहते हैं। ऐसे आहारको ग्रहण करना पिहित दोष है।

५. संव्यवहरण दोष—दान आदिके वर्तनको शीघ्रताके कारण खींचना और बिना देखे उस बर्तनमें रक्खा हुआ आहार लेना संव्यवहरण दोष है।

६. दायक दोष—धाय, मद्यपायी, सूतकपातक वाला, पिशाचग्रस्त, अतिबालक, अतिवृद्धा, पांच माहसे अधिक गर्भ वाली स्त्री, आड़ में खड़ी या ऊँचे, नीचे स्थानपर खड़ी स्त्री आदिके द्वारा दिया हुआ आहार दायक दोषसे दूषित होता है।

७. उन्मिश्र दोष—मिट्टी, अप्रासुक जल, सचित्त वनस्पति तथा बीज आदिसे मिला हुआ आहार उन्मिश्र आहार है। इसे लेना उन्मिश्र दोष है।

८. अपरिणत दोष—तिलोदक; चणेका धोवन, चावलोंका धोवन तथा हरित वनस्पति आदिने जब तक अपना रूप, रस, गन्ध, स्पर्श नहीं बदला है तब तक वह अपरिणत कहलाता है ऐसा आहार लेना अपरिणत दोष है।

९. लिप्त दोष—गेरु, हरिताल आदिसे लिप्त बर्तनमें रखा हुआ जल आदि आहार लिप्त दोषसे दूषित होता है।

१०. व्यक्त दोष—पाणिपुटमें आये हुए आहारको अधिक मात्रामें नीचे गिराते हुए आहार करना, अथवा अञ्जलिमें आयी हुई एक वस्तु को नीचे गिराकर दूसरी इष्ट वस्तु लेना व्यक्त दोष है।

संयोजनादि चार दोष

१. संयोजना दोष, २. प्रमाण दोष, ३. अंगार दोष और ४. धूम दोष।

इनका स्वरूप इस प्रकार है—

१. संयोजना दोष—परस्पर विरुद्ध वस्तुओंके मिला देने पर संयोजना दोष होता है, जैसे—अत्यन्त गर्म जलमें अप्रासुक शीतल जल मिला कर उसे पीने योग्य बनाना, या अत्यन्त गाढ़ी दाल आदिमें अप्रासुक शीतल जल मिला कर उसे खाने योग्य बनाना।

२. प्रमाण दोष—प्रमाणसे अधिक भोजन लेने पर प्रमाण दोष होता है। उदरके दो भाग आहारसे, एक भाग पानीसे भरना चाहिये तथा एक भाग वायुके संचारके लिये छोड़ना चाहिये।

३. अंगार दोष—गृद्धतावश अधिक आहार लेना अंगार दोष है।

४. धूम दोष—अरुचिकर भोजनकी मनमें निन्दा करते हुए लेना धूम दोष है।

चौदह मल

१. नख, २. रोम (बाल), ३. जन्तु, ४. हड्डी, ५. कण (जौ गेहूँ आदिके बाहरका अवयव), ६. कुण्ड (चावलके ऊपर लगा हुआ कन आदि), ७. पीप, ८. चर्म, ९. रुधिर, १०. मांस, ११. बीज

(अंकुर उत्पादनकी शक्तिसे युक्त गेहूँ, चना तथा मुनक्काका बीज आदि), १२. फल (जामुन आदि सचित्त फल), १३. कन्द (जमीकंद आलू, सूरण, शकरकन्द आदि) और १४. मूल (मूली तथा पिप्पली आदि)।

इन १४ मलोंमें कुछ महामल हैं और कुछ अल्पमल हैं। कोई महा-दोष हैं और कोई अल्प दोष। जैसे रुधिर, मांस, हड्डी, चर्म और पीप ये महादोष हैं। आहारमें इनके आ जाने पर आहार छोड़ दिया जाता है तथा प्रायश्चित भी किया जाता है। आहारमें इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवका कलेवर यदि आ जाय तो आहार छोड़ देना चाहिये। बाल निकलने पर आहार छोड़ देना चाहिये। नखके निकलने पर आहार छोड़कर कुछ प्रायश्चित लिया जाता है। कण, कुण्ड, बीज, कंद, फल और मूलके आने पर यदि ये अलग किये जा सकते हों तो अलगकर आहार लिया जा सकता है और अलग न किये जा सकने पर आहार छोड़ देना चाहिये।

बत्तीस अन्तराय

१. **काक**—चर्याके लिये जाते समय मुनिके ऊपर यदि काक या वक आदि पक्षी बीट कर दे तो यह काक नामका अन्तराय है।

२. **अमेध्य**—चर्याके लिये जाते समय यदि साधुका पैर विष्ठा आदि अपवित्र पदार्थसे लिप्त हो जाय तो अमेध्य नामका अन्तराय है।

३. **छर्दि**—चर्याके लिये जाते समय मुनिको यदि वमन हो जाय तो छर्दि नामका अन्तराय है।

४. **रोधन**—चर्याके लिए जाते समय साधुको यदि कोई रोक दे या पकड़ ले तो रोधन नामका अन्तराय है।

५. **रुधिर**—यदि आहार करते समय साधुके शरीरसे रुधिर निकल आवे या किसी अन्यके शरीरसे निकलता हुआ रुधिर दिख जाय तो रुधिर नामका अन्तराय है।

६. **अश्रुपात**—दुःखके कारण अपने या सामने खड़े किसी अन्य व्यक्तिके नेत्रसे अश्रुपात होने लगें तो अश्रुपात नामका अन्तराय है।

७. **जान्वधः परामर्श**—घुटनोंसे नीचेके भागका यदि हाथसे स्पर्श हो जाय तो जान्वधः परामर्श नामका अन्तराय है।

८. **आतूर्ध्वरि व्यतिक्रम**—दाता पड़गाह कर ले जावे और चौका घुटनोंसे ऊपर अधिक ऊंचाई पर है, साधुको बिना सीढ़ीके उतना ऊपर चढ़ना पड़े तो यह अन्तराय होता है। साधु लौट जाते हैं।

९. **नाभ्यधो निर्गमन**—साधुको चौकामें पहुँचनेके लिये इतनी छोटी खिड़कीसे जाना पड़े कि एकदम झुकना हो तो यह नाभ्यधो निर्गमन नामका अन्तराय है।

१०. **प्रत्याख्यात सेवना**—साधुने जिस वस्तुका त्याग किया है यदि वह वस्तु आहारमें आ जाय तो प्रत्याख्यात सेवना नामका अन्तराय है, जैसे साधु नमक छोड़े हुए है, दाता ने नमक वाला पदार्थ दे दिया, साधु को जब नमकका स्वाद आया तो अन्तराय मानकर शेष आहार छोड़ देते हैं।

११. **जन्तु वध**—चौकामें पहुँचने पर अपने द्वारा या दान देनेवाले अन्य व्यक्तिके द्वारा चिउटी आदि जीवोंका वध हो जाय या नीचे रखे हुए बर्तनमें पड़कर कोई मक्खी आदि मर जाय अथवा आहार करते समय यह शब्द सुननेमें आवे कि अमुक व्यक्तिका वध हो गया है तो यह जन्तु वध नामका अन्तराय है।

१२. **काकादि पिण्ड हरण**—वनमें आहार लेते समय कोई काक आदि पक्षी झपट कर साधुके पाणिपुटसे ग्रास ले जाय तो यह काकादि पिण्ड हरण नामका अन्तराय है।

१३. **पिण्ड पतन**—यदि आहार करते समय साधुके पाणिपुटसे ग्रास मात्र नीचे गिर जाय तो पिण्डपतन नामका अन्तराय होता है।

१४. **पाणिजन्तु वध**—यदि आहार करते समय कोई मक्खी आदि जन्तु पाणिपुटमें आकर मर जाय तो पाणिजन्तु वध नामका अन्तराय है।

१५. **मांस दर्शन**—यदि आहार करते समय मरे हुए पञ्चेन्द्रिय जीव-के शरीरका मांस दिख जाय तो मांस दर्शन नामका अन्तराय है।

१६. **उपसर्ग**—आहारके समय देवकृत आदि उपसर्गके आ जानेपर उपसर्ग नामका अन्तराय होता है।

१७. **पादान्तर जीव**—यदि आहार करते समय कोई चुहिया आदि पञ्चेन्द्रिय जीव साधुके पैरोंके बीचसे निकल जाय तो पादान्तर जीव नामका अन्तराय होता है।

१८. **भाजन पात**—यदि आहार देनेवालेके हाथसे कोई बर्तन नीचे गिर जाय तो भाजनपात नामका अन्तराय होता है।

१९. **उच्चार**—पेचिश आदिकी बीमारी होनेके कारण यदि साधु के उदरसे मल निकल जाय तो उच्चार नामका अन्तराय होता है।

२०. **प्रस्रवण**—यदि किसी बीमारीके कारण आहार करते समय साधुके मूत्रस्राव हो जाय तो प्रस्रवणका नामका अन्तराय होता है।

२१. **अभोज्य गृह प्रवेश**—चर्याके लिये जाते समय यदि साधुका चांडाल आदिके घरमें प्रवेश हो जाय तो अभोज्य गृह प्रवेश नामका अन्तराय होता है।

२२. **पतन**—यदि आहार करते समय मूर्च्छा आनेसे साधु गिर पड़े तो पतन नामका अन्तराय होता है।

२३. **उपवेशन**—आहार करते समय शक्तिकी क्षीणतासे साधुको बैठना पड़ जाय तो उपवेशन नामका अन्तराय होता है।

२४. **सदंश**—आहार करते समय यदि कुत्ता आदि काट खाये तो सदंश नामका अन्तराय होता है।

२५. **भूमि स्पर्श**—सिद्ध भक्ति करनेके बाद यदि साधुसे भूमिका स्पर्श हो जाय तो भूमि स्पर्श नामक अन्तराय होता है।

२६. **निष्ठीवन**—आहार करते समय यदि साधु के मुख से थूंक या कफ निकल जाय तो निष्ठीवन नामका अन्तराय होता है।

२७ **उदर कृमिनिर्गमन**—आहार करते समय यदि साधुके उदरसे कृमि निकल पड़े तो उदर कृमि निर्गमन नामक अन्तराय होता है।

२८. **अदत्त ग्रहण**—यदि बिना दी हुई वस्तु ग्रहण में आ जाय अथवा आहार करते समय यह विदित हो जाय कि दाता जो वस्तु दे रहा है वह चोरी की है तो साधु अन्तराय कर देते हैं।

२९. **प्रहार**—आहार करते समय यदि कोई दुष्ट जीव साधु पर अथवा सामने उपस्थित श्रावकों पर लाठी आदि से प्रहार कर दे तो प्रहार नामका अन्तराय होता है।

३०. **ग्रामदाह**—आहार के समय यदि ग्राममें आग लग जाय तथा भगदड़ मच जाय तो ग्राम दाह नामका अन्तराय होता है।

३१. पादेन किंचिद् ग्रहण—यदि पैर से कोई वस्तु ग्रहण की जावे तो यह अन्तराय होता है।

३२. करेण किंचिद् ग्रहण—यदि आहार करते समय कोई दाता भूमि पर पड़ी वस्तु को हाथ से उठा ले तो करेण किंचिद् ग्रहण नामका अन्तराय होता है।

विशेष—यद्यपि उपर्युक्त ३२ अन्तरायों के सिवाय चाण्डाल स्पर्श, कलह, इष्टमरण, साधर्मिक संन्यास पतन तथा प्रधान का मरण आदि भी भोजन त्याग के हेतु हैं तथापि उपलक्षण होनेसे इनका उपर्युक्त अन्तरायों में अन्तर्भाव समझना चाहिये।

वन्दना सम्बन्धी कृति कर्मके बत्तीस दोष

१. अनादृत, २. स्तब्ध, ३. प्रविष्ट, ४. परिपोडित, ५. दोलायित ६. अंकुशित, ७. कच्छपरिङ्गित, ८. मत्स्योद्वर्त, ९. मनोदुष्ट, १०. वेदिकाबद्ध, ११. भय, १२. बिभ्यत्व, १३. ऋद्धिगौरव, १४. गौरव, १५. स्तेनित, १६. प्रतिनीत, १७. प्रदुष्ट, १८. तर्जित, १९. शब्द, २०. होलित, २१. त्रिवलित, २२. कुञ्चित, २३. दृष्ट, २४. अदृष्ट, २५. संघकर मोचन, २६. आलब्ध, २७. अनालब्ध, २८. होन, २९. उत्तर चूलिका, ३० मूक, ३१. दर्दुर और ३२. चुलुलित। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

१. अनादृत—आदर या उत्साहके बिना जो कृतिकर्म किया जाता है वह अनादृत दोष से दूषित है।

२. स्तब्ध—विद्या आदिके गर्वसे उद्धत होकर क्रिया-कर्म करना स्तब्ध दोष है।

३. प्रविष्ट—पञ्चपरमेष्ठीके अति निकट होकर कृतिकर्म करना प्रविष्ट दोष है। वन्द्य और वंदक के बोच कम से कम एक हाथ का अन्तर होना चाहिये।

४. परिपोडित—हाथ से घुटनों को पीड़ित कर अर्थात् घुटनों पर हाथ लगाकर खड़े होते हुए कृति कर्म करना परिपोड़ित दोष है।

५. दोलायित—दोला-झूलाके समान हिलते हुए वन्दना करना दोलायित दोष है।

६. अंकुशित—अंकुश के समान हाथके अंगूठों को ललाट पर लगा कर वन्दना करना अंकुशित दोष है।

७. **कच्छपरिङ्गित**—कछुवेके समान कटिभाग से सरक कर वन्दना करना कच्छपरिङ्गित दोष हैं।

८. **मत्स्योद्वर्त**—मत्स्य के समान कटिभाग को ऊपर उठाकर वन्दना करना मत्स्योद्वर्त दोष है।

९. **मनोदुष्ट**—मन से आचार्य आदि के प्रति द्वेष रखते हुए वन्दना करना मनोदुष्ट दोष है।

१०. **वेदिकाबद्ध**—दोनों घुटनों को हाथों से बाँधकर वेदिका की आकृति में वन्दना करना वेदिकाबद्ध दोष है।

११. **भय**—भय से घबड़ाकर वन्दना करना भय दोष है।

१२. **बिभ्यत्व**—गुरु आदिसे डरते हुए अथवा परमार्थ ज्ञान से शून्य अज्ञानी होते हुए वन्दना करना बिभ्यत्व दोष है।

१३. **ऋद्धि गौरव**—वन्दना करने से यह चतुर्विध संघ मेरा भक्त हो जायगा, इस अभिप्राय से वन्दना करना ऋद्धिगौरव है।

१४. **गौरव**—आसन आदि के द्वारा अपनी प्रभुता प्रकट करते हुए वन्दना करना गौरव दोष है।

१५. **स्तेलित दोष**—मैंने वन्दना की है, यह कोई जान न ले, इसलिये चोर के समान छिपकर वन्दना करना स्तेनित दोष है।

१६. **प्रतिनीत**—गुरु आदि के प्रतिकूल होकर वन्दना करना प्रतिनीत दोष है।

१७. **प्रदुष्ट**—अन्य साधुओं से द्वेषभाव-कलह आदिकर उनसे क्षमाभाव कराये बिना वन्दना करना प्रदुष्ट दोष है।

१८. **तर्जित**—आचार्य आदिके द्वारा तर्जित होता हुआ वन्दना करना तर्जित दोष है, अर्थात् नियमानुकूल प्रवृत्ति न करने पर आचार्य कहते हैं कि 'यदि तुम विधिवत् कार्य न करोगे तो संघ से पृथक् कर देंगे' आचार्य की इस तर्जना से भयभीत हो वन्दना करना तर्जित दोष है।

१९. **शब्द**—मौन छोड़, शब्द करते हुए वन्दना करना शब्द दोष है।

२०. **हीलित**—वचन से आचार्य का तिरस्कार कर पद्धतिवश वन्दना करना हीलित दोष है।

२१. त्रिवलित—ललाट पर तीन सिकुड़न डालकर रुद्रमुद्रा में वन्दना करना त्रिवलित दोष है।

२२. कुंचित—संकुचित हाथों से शिर का स्पर्श करते हुए अथवा घुटनों के बीच शिर झुकाकर वन्दना करना कुंचित दोष है।

२३. दृष्ट—आचार्य यदि देख रहे हैं तो विधिवत् वन्दना करना अन्यथा जिस किसी तरह नियोग पूर्ण करना, अथवा इधर उधर देखते हुए वन्दना करना दृष्ट दोष है।

२४. अदृष्ट—आचार्य आदि को न देखकर भूमि प्रदेश और अपने शरीर का पीछीसे परिमार्जन किये बिना वन्दना करना अथवा आचार्य के पृष्ठ देश—पीछे खड़ा होकर वन्दना करना अदृष्ट दोष है।

२५. संघकर मोचन—वन्दना न करने पर संघ रुष्ट हो जायगा; इस भयसे नियोग पूर्ण करनेके भाव से वन्दना करना संघकर मोचन दोष है।

२६. आलब्ध—उपकरण आदि प्राप्त कर वन्दना करना आलब्ध दोष है।

२७. अनालब्ध—उपकरणादि मुझे मिले, इस भाव से वन्दना करना अनालब्ध दोष है।

२८. हीन—शब्द, अर्थ और काल के प्रमाण से रहित होकर वन्दना करना हीन दोष है, अर्थात् योग्य समय पर शब्द तथा अर्थ की ओर ध्यान देते हुए पाठ पढ़कर वन्दना करना चाहिये। इसका उल्लंघन कर जो वन्दना करता है वह हीन दोष है।

२९. उत्तर चूलिका—वन्दना का पाठ थोड़े ही समय में बोलकर 'इच्यामि भन्ते' आदि अंचलिका को बहुत काल तक पढ़कर वन्दना करना उत्तर चूलिका दोष होता है।

३०. मूक—जो मूक—गूंगे के समान मुख के भीतर ही पाठ बोलता हुआ अथवा गूंगे के समान हुंकार आदि करता हुआ वन्दना करता है उसके मूक दोष होता है।

३१. दर्दुर—जो मेंढक के समान अपने पाठ से दूसरों के पाठ को दबाकर कलकल करता हुआ वन्दना करता है उसके दर्दुर दोष होता है।

३२. मुकुलित—जो एक ही स्थान पर खड़ा होकर मुकुलित अंजलि को घुमाता हुआ सबकी वन्दना कर लेता है उसके मुकुलित दोष होता है।

इन बत्तीसों दोषों से रहित कृतिकर्म ही कर्मनिर्जरा का कारण होता है।

कायोत्सर्ग के अट्ठारह दोष

१. घोटक, २. लता, ३. स्तम्भ, ४. कुड्य, ५. माला, ६. शबरवधू, ७. निगड, ८. लम्बोत्तर, ९. स्तनदृष्टि, १०. वायस, ११. खलीन, १२. युग, १३. कपित्थ, १४. शीर्ष प्रकम्पित, १५. मूकत्व, १६. अंगुलि, १७. भ्रूविकार और १८. वारुणीपायी।

इनका स्वरूप इस प्रकार है—

१. घोटक—कायोत्सर्ग के समय घोड़े के समान एक पैर को उठाकर अथवा झुका कर खड़े होना घोटक दोष है।

२. लता—लता के समान अङ्गों को हिलाते हुए कायोत्सर्ग करना लता दोष है।

३. स्तम्भ—स्तम्भ—खम्भा के आश्रय खड़े होकर कायोत्सर्ग करना स्तम्भ दोष है।

४. कुड्य—कुड्य—दीवाल के आश्रय खड़े होकर कायोत्सर्ग करना कुड्य दोष है।

५. माला—माला—पीठ, आसन आदि ऊँची वस्तु पर खड़े होकर कायोत्सर्ग करना माला दोष है।

६. शबरवधू—भिल्लनी के समान दोनों जंघाओं को सटाकर खड़े हो कायोत्सर्ग करना शबरवधू दोष है।

७. निगड़—निगड़—बेड़ी से पीड़ित हुए के समान दोनों पैरों के बीच बहुत अन्तराल दे खड़े होकर कायोत्सर्ग करना निगड़ दोष है।

८. लम्बोत्तर—नाभि से ऊपर के भाग को अधिक लम्बाकर कायोत्सर्ग करना लम्बोत्तर दोष है।

९. स्तनदृष्टि—अपने स्तनों पर दृष्टि देते हुए खड़े होकर कायोत्सर्ग करना स्तनदृष्टि दोष है।

१०. वायस—वायस—कौए के समान अपने पार्श्वभाग को देखते हुए खड़े होकर कायोत्सर्ग करना वायस दोष है।

११. खलीन—खलीन—लगामसे पीड़ित घोड़े के समान दांत कटकटाते हुए कायोत्सर्ग करना खलीन दोष है।

१२. युग—युग—जूआसे पीड़ित बैलके समान गर्दन पसारकर खड़े हो कायोत्सर्ग करना युग दोष है।

१३. कपित्थ—कैंथाके समान मुट्ठी बाँधकर खड़े हो कायोत्सर्ग करना कपित्थ दोष है।

१४ शिर:प्रकम्पित—शिरको कँपाते हुए खड़े होकर कायोत्सर्ग करना शिरः प्रकम्पित दोष है।

१५. मूकत्व—मूकके समान मुखविकार तथा नासाको संकुचित करते हुए खड़े होकर कायोत्सर्ग करना मूकत्व दोष है।

१६. अंगुलि—कायोत्सर्गमें खड़े होकर अंगुलियाँ चलाना अथवा उनसे गणना करना अंगुलि दोष है।

१७. भ्रू-विकार—भौहोंको चलाते अथवा पैरोंको अंगुलियों को ऊंचा-नीचा करते हुए खड़े होकर कायोत्सर्ग करना भ्रू-विकार दोष है।

१८. वारुणीपायी—वारुणी—मदिरा पीने वालेके समान झूमते हुए खड़े होकर कायोत्सर्ग करना वारुणीपायी दोष है।

शीलके अट्ठारह हजार भेद

मूलाचारके शील-गुणाधिकारमें प्रतिपादित शीलके अट्ठारह हजार भेद इस प्रकार हैं—

तीन योग, तीन करण, चार संज्ञाएं, पाँच इन्द्रिय, दश पृथिवी-कायिक आदि जीवभेद, और उत्तम, क्षमा आदि दशधर्म, इनका परस्पर गुणा करनेसे शीलके अट्ठारह हजार भेद होते हैं। योग, संज्ञा, इन्द्रिय और क्षमादि दशधर्म प्रसिद्ध हैं। अशुभ-योगरूप प्रवृत्तिके परिहारको करण कहते हैं। निमित्तभेदसे इसके भी तीन भेद हैं—मन, वचन और काय। पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय ये पृथिवीकायिक आदि १० जीवभेद हैं।

$$३ \times ३ \times ४ \times ५ \times १० \times १० = १८,०००$$

शीलके अट्ठारह हजार भेद अन्य प्रकारसे भी परिगणित किये जाते हैं।

मुनियोंके चौरासी लाख उत्तरगुण

हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन, परिग्रह; क्रोध, मान, माया, लोभ; भय, जुगुप्सा, रति और अरति ये तेरह दोष हैं। इनमें मन, वचन एवं काय इन तीनोंकी दुष्टतारूप तीन दोष मिलानेसे सोलह होते हैं। इन १६ दोषोंमें मिथ्यात्व, प्रमाद, पिशुनता (चुगलखोरी) अज्ञान और इन्द्रियोंका अनिग्रह (निग्रह नहीं करना) ये ५ और मिला देनेसे २१ दोष हो जाते हैं। इन २१ दोषोंका त्याग करने रूप २१ गुण होते हैं। यह त्याग अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचारके त्यागसे ४ प्रकारका होता है, अतः इन चारका २१ में गुणा करनेसे ८४ प्रकारके गुण होते हैं। इन ८४ में पृथिवीकायिक आदि ५ स्थावर एवं द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय और संज्ञीपञ्चेन्द्रिय इन दशकायके जीवोंकी दयारूप प्राणिसंयम तथा इन्द्रियसंयमके ६ भेद सब मिलाकर १०० का गुणा करनेपर ८४०० होते हैं। इनमें १० प्रकारकी विराधनाओं (स्त्रीसंसर्ग, सरसाहार, सुगन्ध संस्कार, कोमल शयनासन, शरीर-मण्डन, गीतवादित्र श्रवण, अर्थग्रहण, कुशीलसंसर्ग, राजसेवा एवं रात्रि-संचरणका गुणा करनेपर ८४,००० चौरासी हजार होते हैं। इनमें आलोचना सम्बन्धी १० दोष (आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त, तत्सेवी) का गुणा करनेपर ८४,००,००० लाख उत्तरगुण हो जाते हैं।

निर्जरा

निर्जरा भावनाके वर्णनमें पृष्ठ ११७ पर निर्जराके सविपाक और अविपाकके भेदसे दो भेदोंका वर्णन किया गया है। बद्धकर्मके प्रदेश आबाधा कालके बाद अपना फल देते हुए निषेक-रचनाके अनुसार क्रमसे निजीर्ण होते जाते हैं, इसे सविपाक निर्जरा कहते हैं। इस जीवके सिद्धोंके अनन्तवें भाग और अभव्य राशिसे अनन्त गुणित प्रमाण वाले समयप्रबद्धका प्रतिसमय बन्ध होता है। इतने ही प्रमाण वाले समय-प्रबद्धकी निर्जरा होती रहती है और डेढ़ गुणहानि प्रमाण समयप्रबद्ध सत्तामें बना रहता है। मोक्षमार्गमें इस निर्जराका कोई प्रभाव नहीं होता, क्योंकि जितने कर्मोंकी निर्जरा होती है उतने ही नवीन कर्मोंका बन्ध हो जाता है। अविपाक निर्जरा वह है जो तपश्चरणके प्रभावसे उदय कालके पूर्व होती है और जिसके होनेपर संवर हो जाता है।

यह अविपाक निर्जरा ही कल्याणकारिणी है परिणामोंकी विशुद्धतासे कदाचित् अचलावलीके बाद ही बद्धकर्म खिर जाते हैं, इसकी उदीरणा संज्ञा है। पृष्ठ ११७ पर

प्रभावात्तपसां केचिदाबाधापूर्वमेव हि।
निर्जीर्यन्ते यत्र जायन्ते सा मता ह्यविपाकजा ॥ ८७ ॥

श्लोकमें आबाधापूर्वमेवहिके स्थानपर 'उदयात्पूर्वमेव हि' पाठ उचित लगता है। अनुवादमें भी 'आबाधाके पूर्व ही' के स्थानपर 'उदयकालके पूर्व' ऐसा पाठ उचित है। शुद्धिपत्रमें यह संशोधन देनेसे रह गया है। आयुकर्मको छोड़कर शेष सात कर्मोंको आबाधाका नियम उदयकी अपेक्षा यह है कि एक कोड़ा-कोड़ीं सागरकी स्थितिपर सौ वर्षको आबाधा पड़ती है। अर्थात् १०० वर्ष तक वे कर्मप्रदेश सत्तामें रहते हैं, फल नहीं देते। १०० वर्षके बाद निषेक-रचनाके अनुसार फल देते हुए स्वयं खिरने लगते हैं। आयुकर्मको आबाधा एक कोटि वर्षके त्रिभागसे लेकर असंक्षेपाद्धा आवली प्रमाण है। उदीरणाकी अपेक्षा कर्मोंको आबाधा एक अचलावली प्रमाण है।

सल्लेखना

श्रावक हो, चाहे मुनि, सल्लेखना दोनोंके लिये आवश्यक है। उमास्वामी महाराजने लिखा है—'मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता'—व्रती मनुष्य मरणान्तकालमें होने वाली सल्लेखनाको प्रीतिपूर्वक धारण करता है। मूलाराधना तथा आराधनासार आदि ग्रन्थ सल्लेखनाके स्वतन्त्र रूपसे वर्णन करनेवाले ग्रन्थ हैं। इनके सिवाय प्रायः प्रत्येक श्रावकाचारमें इसका वर्णन आता है। प्रतीकाररहित उपसर्ग, दुर्भिक्ष अथवा रोग आदिके होने पर गृहीतसंयमकी रक्षाकी भावनासे कषाय और कायको कृश करते हुए समताभावसे शरीर छोड़ना सल्लेखना है। इसीको संन्यास अथवा समाधिमरण कहते हैं।

दुक्खक्खयो कम्मक्खयो समाहिमरणं च बोहिलाहो य।
मम होऊ जगदबांधव तव जिणवरचरणसरणेण ॥

अर्थात् दुःखका क्षय तब तक नहीं होता जब तक कि कर्मोंका क्षय नहीं होता, कर्मोंका क्षय तब तक नहीं होता जब तक समाधिमरण नहीं होता और समाधिमरण तब तक नहीं होता जब तक बोधि-रत्नत्रयको प्राप्ति नहीं होती। इन चार दुर्लभ वस्तुओंकी प्राप्ति जिनदेवके चरणोंको शरणसे प्राप्त होती है।

कुन्द-कुन्द स्वामोने सल्लेखनाको गरिमा प्रकट करते हुए इसे

श्रावकके चार शिक्षाव्रतोंमें परिगणित किया है परन्तु पश्चाद्वर्ती आचार्योंने व्रतोमात्रके लिये आवश्यक जानकर उसका स्वतन्त्र वर्णन किया है। नित्य सल्लेखना और पश्चिम सल्लेखनाके भेदसे सल्लेखना के दो भेद हैं। निरन्तर सल्लेखनाकी भावना रखना नित्य सल्लेखना है और जीवनका अन्त आनेपर सल्लेखना करना पश्चिम सल्लेखना है। अमृतचन्द्राचार्यने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें इसका महत्त्व बतलाते हुए लिखा है—

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम्।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या॥ १७५॥

अर्थात् यह एक पश्चिम सल्लेखना ही मेरे धर्मरूपी धनको मेरे साथ ले जानेमें समर्थ है।

इसी भावको लेकर सल्लेखना-प्रकरणके प्रारम्भमें लौकिक वैभव-का दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया गया है। दृष्टान्त दृष्टान्तमात्र है। सल्लेखना करनेवाले मुनि अथवा श्रावकको लौकिक सम्पदाको साथ ले जानेको भावना नहीं होती, क्योंकि लौकिक भोगोपभोगोंकी आकांक्षा को तो आचार्योंने निदान नामका अतिचार कहा है। भोगोपभोगके प्रति क्षपकको आकांक्षा उत्पन्न करना दृष्टान्तका प्रयोजन नहीं है। सल्लेखना आत्मघात नहीं है। आगममें इसके तीन भेद बतलाये हैं— १. भक्तप्रत्याख्यान, २. इंगिनीमरण और ३. प्रायोपगमन। भक्तप्रत्या-ख्यानमें क्षपक आहार-पानीका यम अथवा नियम रूपसे त्याग करता है तथा शरीरकी टहल स्वयं अथवा अन्यसे करा सकता है। इंगिनी-मरणमें शरीरकी टहल स्वयं कर सकता है, दूसरेसे नहीं कराता और प्रायोपगमनमें न स्वयं करता है न दूसरेसे कराता है।



पद्यानुक्रमणिका*

---

* प्रथम अंक प्रकरणका, द्वितीय अंक पद्यका और तृतीय अंक पृष्ठका समझना चाहिये, प्र० = प्रशस्ति।

द

ब

भ

र

ल

ह

शुद्धि-पत्र

पृ० सं०	प० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
१	२	निजभावशुदध्यै	निजभावशुद्ध्यै
२	५	विश्वान्य देवान्	विश्वान्यदेवान्
५	२४	श्रय	श्रेय
६	३४	—समितिरक्ता	—समितिरुक्ता
१०	६३	ह्येकवाहं यो	ह्येकवारं यः
१५	२५	एतद्वत्तं	एतद्वृत्तं
१६	४१	विशुद्धया	विशुद्ध्या
२३	७१	विशुद्धया	विशुद्ध्या
२६	१	आज्ञा	आत्ता
२८	१०	रुहन्ते	सहन्ते
२८	१६	—कार्याश्चतुर्विधा	—कायाश्चतुर्विधाः
३३	४५	तच्चतुर्विध्य	तत्चातुर्विध्य
३६	६५	महद्वाल्पतर	महद् वाल्पतरं
३७	७७	—धारिणी	—धारिणि
३६	६१	शिरास्थं	शिरःस्थं
४०	६७	केनोक्तस्तवं	केनोक्तस्त्वं
४०	६७	मुनिभूर्या	मुनिर्भूया
४०	१००	सामर्थ्य	सामर्थ्यं
४१	१०३	यः	याः
४३	११४	—मक्षणां	—मक्षाणां
४५	१४	पद्भ्यामेव	पादाभ्यामेव
४६	१६	—लक्षणः	—लक्ष्मणः
४६	२०	काकप्रियरवं	काकाप्रियं
४६	२१	बहूपि	बह्वपि
४७	२६	प्रत्यवं	प्रत्ययं
४८	३२	एव	एवं

पृ० सं०	प० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
५०	४३	वह्निर्ज्वाला	वह्न`ज्वाला
५१	४६	शकटाभा	शकटाभः
५१	५२	कुण्ठी	कुण्डी
५१	५४	विद्युत्स्फर्ति—	विद्युत्स्फूर्ति—
५१	५५	पिच्छपङ्क्ति	पिच्छपंङ्क्ति
५१	५६	गृहोतः केन चिज्जातु	गृहोताः केनचिज्जातु
५२	६१	एकद्वित्रीणि	एकद्वित्राणि
५३	६७	संकोर्ण	संकोर्णे
५३	६६	धेयं	देयं
६१	१२	—रश्मि—	—रस्मि—
७०	४०	जितचन्द्रमा	जितचन्द्रमस्
७३	५५	विज्ञानलोक—	विज्ञातलोक—
७४	६१	—धर्मेषु	—धर्मेषु
७५	६४	ज्ञातादृष्टस्व—	ज्ञातादृष्टास्व—
७५	७२	मनसशुद्धि—	मनसः शुद्धि
७७	७७	द्वयेकेन्द्रियाद्या	द्वयेकेन्द्रियाद्या
७८	८४	परेष्यां	परेषां
७६	८८	स्वभाव	स्वभावो
८३	१००	प्रत्याख्यानाञ्च	प्रत्याख्यानाच्च
८५	११६	केचिद्	केचन
८६	१६	मता मूढदृष्टिता	मताऽमूढदृष्टिता
६२	३३	स्वाध्यायसमुद्यतैः	स्वाध्यायार्थं समुद्यतैः
६३	४६	बहुमानाद्य	बहुमानाख्य
६८	७३	वर्ण्यन्ते यथागमम्	वर्ण्यन्ते हि यथागमम्
१०५	११६	—दात्मवः	—दात्मनः
१०८	१६	जोवं	देहं
१०६	२३	मरन्तो	भरन्तो
१११	४१	इयन्ते	दूयन्ते
११४	६६	चतुरन्त—	दचतुरन्त—
११८	१०३	ह्रियान्ते	ह्रियन्ति
१२०	११७	रत्नत्रये	रत्नत्रयं
१२३	३	नरकयतो	श्वभ्रगत्यां

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
१२७	३८	चिन्तयश्चित्तं	चिन्तयतश्चित्तं
१२८	४०	अपर्याप्तकेषु	अपर्याप्तेषु
१२८	४४	नास्त्ये	नास्त्येव
१३३	६	एषो	एषां
१३३	१०	ज्ञातादृष्ट स्वभावाः	ज्ञातादृष्टास्वभावाः
१३७	३७	तोर्थाक्रन्—	तीर्थक्रन्—
१४३	४२	नाकसुखस्पृहा	मुक्तिसुखपृहा
१४५	११	विरति	विरतिः
१४७	२७	—दतिथी—	—दतिथि—
१४८	३७	दानेनैव शुध्यन्ते	दानेनैव हि शुध्यन्ते
१४९	४२	तृघो	वघो
१५१	५५	काष्ण	काष्ठा
१६०	११७	ऐलकवत्	ऐलकवत्तु
१६७	३५	शैथिल्यादन्नोचै—	शैथिल्यान्नोचै—
१६८	४२	देशव्रतं	देशव्रत—
१६९	४७	सार्थक	सार्थकं
१७१	५	चारित्राद्यो	चारित्राढघो
१७१	७	हसन्तु	नो हसन्तु

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
३३	३३	गृहस्थको	गर्दभको
५७	६	समूहसे मणि	समूहसे मण्डित
९१	१२	मध्यरात्रिके दो घड़ी पूर्वसे	मध्यरात्रिके दो घड़ी पश्चात्से
९१	१७	सूर्यारूप	सूर्यास्त
१०२	२३	आदिके तोन संहननोंसे सहित	छहों संहननोंसे सहित
१०९	५	जीवको	देहको
११६	१७	शुभाचारको प्राप्त हुआ	शुभाचारको भी प्राप्त हुआ
११७	२६	आबाधाकाल आनेपर	आबाधाकाल बोत जानेपर
११७	२९	आबाधाके पूर्व ही निर्जीर्ण	अपने उदयकालके पूर्व निर्जीर्ण

पृ० सं०	पं० सं०		अशुद्ध	शुद्ध
१२६	६		तिर्यञ्च सम्य-क्त्वका	तिर्यञ्चों में सम्यक्त्वका
१३७	१६		आर्यिकाओंको	आर्यिकाओंके
४	१२	(प्रका०)	विष-वेला	विष-वेल
६	६	(भूमिका)	भूतिबनो	भूतबलो
८	२६	,,	संयमा	संयमों
६	२२	,,	नामानियोऽस्ति	नामानि योऽस्ति
६	२२	,,	सचित्तविरलो	सचित्तविरतो
६	२५	,,	सचित्त त्याग प्रतिभा	सचित्तत्यागप्रतिमा
१४	२३	(ले०)	एकदशम	दशम
१५	१६	,,	अधोवर्जी	अधोवर्ती
१६	१७	,,	समाज	समता

नोट—समासवाले पदोंके मूढा अधिकांश अलग-अलग छापे गये हैं। शुद्धि-पत्रमें उनका संशोधन शक्य नहीं है। अतः संस्कृतज्ञ विद्वान उनका संशोधन कर पढ़नेका कष्ट करें।

—प० का०

